

आगे पन्द्रह शकोंसे सामायिक करनेकी विधिको कहतनेकी इच्छासे सर्वपिथम नाम सामायिकको कहते हैं--

अज्ञानवश किसी मित्रके द्वारा प्रशस्त नाम लिये जानेपर मैं उससे राग नहीं करूँगा और शत्रुके द्वारा बुरा नामका प्रयोग किये जानेपर आससे द्वेष नहीं करूँगा क्योंकि मैं वचन के गोचर नहीं हूँ । यह नाम सामायिक है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ--प्रायः मनुष्य किसीके द्वारा अपना नाम आदरपूर्वक लिये जानेपर प्रसन्न होते हैं और निरादरपूर्वक लिये जानेपर नाराज होते हैं । ऐसा न करना नाम सामायिक है क्योंकि आत्मा तो शब्दका विषय नहीं है । पद्म. पञ्च. में कहा है -- ' जिस चेतन तत्त्वको जानता हुआ भी और बुद्धिमान् भी गुरु वाणीके द्वारा कहनेके लिए समर्थ नहीं है, तिला यदि कहा भी जाये तो भी जो आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमें समाता नहीं है, तिला जिसके रस्वानुभवमें स्थित होते हुए भी विरे ही मनुष्य दीर्घकाके पश्चात् लक्ष्य मोक्षको प्राप्त कर पाते हैं, वह मोक्षका एकमात्र कारण आश्चर्यजनक चेतन तत्त्व जयवन्त होवे ।'

आवाग्लक्षण का दूसरा अर्थ यह भी होता है कक उसका क्षण शब्द नहीं है अर्थात् अशब्दात्मक है । आचार्य कुन्दकुन्दने काह भी है--जीव रस-रूप और गन्धसे रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुणसे युक्त है, शब्दरूप नहीं है, किसी चिह्नसे उसका ग्रहण नहीं होता, तिला उसका आकार कहा नहीं जा सकता ॥ २१ ॥

स्थापना सामायिककी भावना कहते हैं--

यह सामृने विराजमान प्रतिमा मुणे जिस अर्हन्त स्वरूपका स्मरण कराती है मैं उस अर्हन्त स्वरूप भी नहीं हूँ तब इस प्रतिमास्वरूप तो मैं सर्वथा ही नहीं हूँ । इसलिये मेरी बुद्धि इस प्रतिमामें न तो सम्यक् रूपसे ठहरी ही हुई है और न उससे विपरीत ही है ॥ २२ ॥

यत्--अहंदादिस्वरूपम् । अर्चा--प्रतिमा । सुस्था--यथोक्तमानोन्मानादियुक्तत्वात् ॥ २२ ॥

अथ द्रव्यसामायिकं भवयन्नह--

साम्यागमातद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ ।

तादृशौ स्तां पराद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवदृग्रहः ॥ २३ ॥

साम्यागमज्ञः--

जीवियमरणेलाहालाहे संजोयविपपओए य ।

बंधु अरि सुह दुहे वि य समदा सामाज्यं णाम ॥ [मूाचार, गा. २३]

इत्यादि सामायिकप्रभृतकस्य ता जीवसतदुपयुक्तः । तद्विपक्षौ--भविजभवः कर्मनोकर्मद्वयं च । तत्राद्याो ज्ञास्यमानसाम्यागमः । कर्म पुनः साम्ययुक्तेनार्जितं तीथकरादिकम् । नोकर्म तु साम्यागमोपाध्यायस्तत्पुस्तकिस्तद्युक्तोपध्यायश्चेत्यादि । यादृशौ तादृशौ--शुभवशुभौ वेतयर्थः । स्तां--

भवताम् । स्वद्रव्यवत् । अनवयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा दृष्टानतोऽयम् । आरब्धयोगस्यैव हि स्वद्रव्यमात्रेऽभिनिवेशोऽभ्यनुज्ञायते । निष्पन्नयोगस्य तु तत्रापि तत्प्रतिषेधात् ।

तथा चोक्तम् --

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कमधर्जालकतितोऽहनित्यपि ।

निर्विकलपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि भते परं पदम् ॥ [पञ्च. पञ्च. २३]

इत्यादि सामायिकप्राभृतकस्य ताता जीवसतदनुपयुक्तः । द्विपक्षौ--भाविजीवः कर्मनोकर्मद्वयं च । तत्राद्यो ज्ञास्यमानसाम्यागमः । कर्म पुनः साम्ययुक्तेनार्जितं तीर्थकरादिकम् । नोकर्म तु सामस्यागपोपाध्यायस्तत्पुस्तकस्तद्युक्तोपध्यायश्चेत्यादि । यादृशौ--शुभावशुभौ वेत्यर्थः । स्तां--भवताम् । स्वद्रव्यवत् । अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा दृष्टानतोऽयम् । आरब्धयोगस्यैव हि स्वद्रव्यमात्रेऽभिनिवेशोऽभ्यनुज्ञायते । निष्पन्नयोगस्य तु तत्रापि तत्प्रतिषेधात् ।

तथा चोक्तम्--

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कमंजाकतितोऽहमित्यपि ।

निर्विकलपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि भते परं पदम् ॥ [पञ्च. पञ्च. १०६१८]

अपि च--

यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।

इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥ [पञ्च. पञ्च., १०११६]

विशेषार्थ--अर्हनतकी प्रतिमाके शस्त्रोक्त रूपके देखकर उससे राग नहीं करना और विपरीत रूपका देखकर द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है । उसीकी भावना ऊपर कही है । सुन्दर आकार विशिष्ट प्रतिमाको देखकर दर्शको अर्हनतके स्वरूपका स्मरण होता है किन्तु दर्शक तो अर्थ अर्हनतस्वरूप नहीं है, और प्रतिमास्वरूप तो वह है ही नहीं कयोकि प्रतिमा तो जड है । इस तरह वह प्रतिमामें अपनी बुद्धिको न तो स्थिर ही करता है और न उससे हटाता ही है अर्थात् प्रतिमाको देखकर रागाविष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

आगे द्रव्य सामायिककी भावना कहते हैं--

सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीव और उसका शरीर तथा उनके विपक्षी भावि जीव और कर्म-नोकर्म ये जैसे अच्छे या बुरे हों, रहें, मुणे उनसे क्या, क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं : स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यमें मेरा अभिनिवेश कैसे हो सकता है ? ॥ २३ ॥

विशेषार्थ--ऊपर द्रव्य सामायिकके दो भेद कहे हैं -- आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम द्रव्य सामायिक । सामायिकविषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है व आगम द्रव्य सामायिक है । उसका शरीर नोआगम द्रव्य सामायिकका एक भेद है । इनके विपक्षी हैं नोआगम द्रव्य सामायिकके शेष भेद भराविजीव, जो आग्रे सामायिक विषयक आगमको पढानेवाला उपाध्या, पुस्तक आदि नोकर्म तद्व्यतिरिक्त है । इनमें किसी प्रकारका अच्छा या बुरा अभिनिवेश न करना द्रव्य सामायिक है । क्योंकि ये सब परद्रव्य हैं । सामायिक करते हुए केपरद्रव्यमें अभिनिवेश कैसा ? यहाँ

तथा--

'अनतरडबरिडयोगतः कार्यसिद्धिरखिति योगिना ।

आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥ [पद्म. पञ्च. १०/४४]

ग्रहः-शुभशुभाभिनिवेशः ॥ २३ ॥

अथ खेत्रसामायिकं भावयन्नाह--

राजाधानीति न प्रीये नारण्यानीति चोद्विजे ।

देशा हि रम्योऽम्यो वा नात्मारामस्य कोऽपि मे ॥ २४ ॥

प्रीये--रज्याम्यहम् । अरण्यानी--महारण्यम् । उद्विजे-उद्वेगं याम्यहम् । आत्मारामस्य--आत्मैव आराम उद्य'ानं रतिस्थानं यस्य, अन्यत्र गतिप्रतिबन्धकत्वात् । यथाह-

'यो यत्र निवसननास्ते स तत्र कुरुते रतिम् ।

यो यत्र रमते तस्मादनयत्र स न गच्छति ॥' [इष्टोप. शो. ४३]

तथा--

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।

दृष्टनात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चः ॥' [समा. तन्त्र, शो. ७३]

अथवा आत्मनोऽप्यारामो निवृत्तिर्यस्येति ग्राह्यम् ॥ २४ ॥

जो 'स्वद्रव्यवत्' दृष्टान्त दिया है वह अन्वय रूपसे भी घटित होता है और व्यतिरेक रूपसे भी घटित होता है । जो योगका अभ्यासी होता है वह तो स्वद्रव्यमें अभिनिवेश रखता है किन्तु जो उसमें परिपक्व हो जाता है उसके लिए स्वद्रव्यमें अभिनिवेश भी त्याज्य है । पद्म. पञ्च. में कहा है--वासतवमें जमें मुक्त हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं करना चाहिए और मैं कर्मोंके समूहसे वष्टित हूँ ऐसा भी विकल्प नहीं करना चाहिए ।

क्योंकि संयमी निर्विकल्प पदवीको प्राप्त करके ही मोक्षको प्राप्त करता है । और भी कहा है--जो-जो विकल्प मनमें आकर ठहरता है उस-उसको तत्का ही छोड़ देना चाहिए । इस प्रकार जब यह विकल्पोंके त्यागकी पूर्णता हो जाती है तब मोक्षपद भी प्राप्त हो जाता है । सब कर्मोंकी सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योगसे होती है । इसलिए योगीको निरनतर प्रयत्नपूर्वक स्व और परको समदृष्टिसे देखना चाहिए ॥ २३ ॥

क्षेत्र सामायिककी भावना कहते हैं--

यह राजधानी है, इसमें राजा रहता है ऐसा मानकर मैं राग नहीं करता और यह बड़ा भारी वन है ऐसा मानकर मैं द्वेष नहीं करता । क्योंकि मेरा आत्मा ही मेरा उद्यान है अतः अन्य कोई देश न मेरे लिए रमणीक है और न अरमणीक ॥ २४ ॥

विशेषार्थ--वास्तवमें प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, निश्चयसे उसीमें उस द्रव्यका निवास है । बाह्य क्षेत्र तो व्यावहारिक है, वह तो बदलता रहता है, उसके विनाशसे आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती । अतः उसीमें रति करना उचित है । पूज्यपाद स्वामीने कहा है--'जिन्हें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई उनका निवास गकाँव और वनके भेदसे दो प्रकारका है । किन्तु जिन्हें आत्मस्वरूपके दर्शन हुए हैं उनका निवास रागादिसे रहित निश्चल आत्मा ही है ।'

'जो जहाँ रहता है वह वहीं प्रीति करता है । और जो जहाँ प्रीति करता है वह वहांसे अन्यत्र नहीं जाता । अतः जिसका रतिस्थान आत्मा ही है वह बाह्य देशमें रति या अरति

[इतः परं त्रिंशत्संख्यकशोकपर्यन्तं टीका नास्ति]

नामूर्तत्वादिध्दमाद्यात्मा कालः किं तल्लि पुद्गलः ।

तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहमम् ॥ २५ ॥

सर्वे वैभाविका भवा मत्तोऽन्ये तेष्वतः किम् ।

चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥ २६ ॥

जीविते मरणे लाभेऽभे योगे विपर्यये ।

बन्धवरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभयुपैम्यहम् ॥ २७ ॥

नहीं करा । अथवा आराम शब्दका अर्थ निवृत्ति भी होता है । अतः आत्मासे भी जिसकी निवृत्ति है वह आत्माराम है ऐसा अर्थ भी लिया जाता है क्योंकि वास्तवमें स्वात्मामें भी रति रागरूप होनेसे मोक्षके लिए प्रतिबन्धक है अतः मुभुक्षु स्वात्मामें भी रति नहीं करता ॥ २४ ॥

का सामायिककी भवना कहते हैं--

कालद्रव्य हमनत, ग्रीष्म या वर्षाऋतुरूप नहीं है क्योंकि वह तो अमूर्तिक है उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है । किन्तु लोग मूर्त पुद्गल द्रव्यमें कालका व्यवहार करते हैं । उस मूर्त पुद्गल द्रव्यका विषय मैं कभी भी नहीं हूँ ॥ २५ ॥

विशेषार्थ--निश्चय कालद्वय तो अमूर्तिक है । अतः लोकमें जो शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिको काल कहा जाता है वह तो उपचरित व्यवहार काल है, जो ज्योतिषी देवोंके गमन आदिसे और पौद्गलिक परिवर्तनसे जाना जाता है^६ अतः पौद्गलिक है । पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाला होनेसे मूर्तिक है । अतः यह आत्मा उससे सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा चित्तस्वरूप है । द्रव्यसंग्रहमें कहा है कि शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव सिद्ध समान शुद्ध होते हैं । ऐसी स्थितिमें ऋतुओंमें रागद्वेष कैसे किया जा सकता है । वह तो पुद्गलोंका परिवर्तन है ॥ २५ ॥

इस प्रकार क्रमसे नाम सामायिक, स्थपना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक और का सामायिकको कहकर भाव सामायिकको कहते हैं--

तत्त्वदृष्टिसे मेरा स्वरूप तो चेतनाका चमत्कार मात्र है । शेष सभी औदयिक, औपशमिक, क्षायक और क्षायोपशमिक भव वैभाविक होनेसे मुझसे भिन्न हैं । अतः मैं उनमें कैसे रागद्वेष कर सकता हूँ ॥ २६ ॥

विशेषार्थ--जीवके पाँच भवोंमें स्वाभाविक भाव केवल एक पारिणामिक है शेष चारों भाव औपाधिक हैं । उनमें औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो कर्म जानित हैं । क्षायिक भाव केवलज्ञानादि रूप जीवका यद्यपि स्वभाव है फिर भी कर्मोंकेक्षयसे उत्पन्न लेनेसे उपचारसे कर्मजनित कहा जाता है । एक शुद्ध पारिणामिक ही साक्षात् कर्म निरपेक्ष है ॥ २६ ॥

आगे नौ श्लोकांसे भावसामायिकका ही विसतारसे कथन करते हैं --

मैं जीवनमें, मरणमें, लाभमें, अलाभमें, संयोगमें, वियोगमें, बन्धुमें, शत्रुमें और सुखमें, दुःखमें साम्य भव ही रखता हूँ ॥ २७ ॥

विशेषार्थ--रागद्वेषके तयागको साम्यभव कहते हैं । अतः मैं जीवनमें राग ओर मरण में द्वेषका त्याग करता हूँ । लाभमें राग और अलाभमें द्वेषका त्याग करता हूँ ॥ इष्ट संयोगमें

कायकारानुदकायाऽहं स्पूहयामि मिमायुषे ।
तद्दुःखखणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभेमि किम् ॥ २८ ॥
लाभे दैवयशःस्तम्भे कस्तोषः पुमधस्पदे ।
को विषादस्त्वाभे मे दैवाघवकारणे । २९ ॥
योगो ममेष्टैः संकल्पात् सुखोऽनिष्टैर्वियोगवत् ।
कष्टश्चेष्टैर्वियोगोऽन्यैर्योगवन्न तु वस्तुतः ॥ ३० ॥

वस्तुतः अन्यैः अनिष्टैः ॥ ३० ॥

राग और इष्ट वियोगमें द्वेषका त्याग करता हूँ । उपकारक मित्रमें राग और उपकारक शत्रु में द्वेषका त्याग करता हूँ । तथा सुखमें राग ओर दुःखमें द्वेषका त्याग करता हूँ --

आगे जीवनकी आशा और मरणके भय का निराकरण करते हैं--

भवधारणमें कारण आयुकर्म शीररूपी जेलखानेमें रोके रखनेके लिए लोहेकी साँकलके समान, है, उसकी मैं कयों इच्छा करुंगा । और मृत्यु उस शीररूपी जेलखानेके कष्टसे क्षण-भरके लिए विश्रामका कारण है । उससे मैं कयों डरुंगा ॥ २८ ॥

विशेषार्थ--आयुकर्मके बिना जीवन नहीं रहाता । अतः जीवनकी इच्छा प्रकारान्तरसे आयुकर्मकी ही इच्छा करना है^६ उसीसकके कारण यह जवीव इस शीररूपी जेलखानेमें बन्द रहता है । अतः कौन बुद्धिमान् ऐसे कर्मकी इच्छा करेगा । मृत्यु ही ऐसा मित्र है जो एस जेलखानेके कष्टसे कुठ खेणांके एिल छुअकारा दि जाती है कयोंकि जब जीव पूर्व शरीरको छोडकर नया शीरर धारण करनेके लिए विग्रह गतिसे गमन करता है तो एक मोडा लेपर एक समय तक, दो मोउं लेनेपर दो समय तक ओर तीन मोडे लेनेपर तीनप समय तक औदारिक, वैक्रियकि और आहारक शीरकेन रहनेसे शरीररूपी जेखानेसे मुथक रहती है । अतः मृत्युसे डरनेका कोई कारण नहीं है ॥ २८ ॥

लाभ ओर आभमें हर्ष ओर विषादका निषेध करते हैं --

जो लाभ दैवका कीर्तिस्तम्भ ओर पुरुषकी निन्दाका घर है उसके होनपर हर्ष केसा ? और जिस अलाभकेहोनेपर दैवकी अर्थात् पूर्व संचित पापकर्मकी हानि होती है उसमें विषाद केसा ? ॥ २९ ॥

विशेषार्थ-- पूर्व जनममें संचित शुभ और अशुभ कर्मको देव कहते हैं । पुण्यकर्मके उदयसे लाभ और पापकर्मके उदयसे अलाभ होता है । यदि किसी व्यक्तिको लाभ होता है तो लोग उसके पौरुषकी प्रशंसा न करके दैवकी ही प्रशंसा करते है । । अतः लाभ पुरुषके प्रयत्नको गिरानेवाला और दैवकी महिमा बढानेवाला है अतः उससे सन्तुष्ट होना व्यर्थ है^६ इसके विपरीत पुरुषके प्रयन्त करनेपर भी यदि लाभ नहीं होता तो लोग यही कहते हैं कि बेचारेने मेहनत तो बडी की किन्तु पापकर्मका उदय होनेसेलाभ नहीं हुआ । इस तरह अलाभमें सारा दोष दैवके ही सिर पडता है तब अलाभसे खेद कयों ? कहा है--सब लोगोंमें चम्मत्कार करनेवाले, अपार साहसके धनी मनुष्यकी यदि इष्ट सिद्धि नहीं होती है तो यह दुर्दैवका ही अपयश है उस मनुष्यका नहीं ॥ २९ ॥

आगे विचार करते हैं कि इष्ट पदार्थकेसंयोगको सुखका और वियोगको दुःखका

अथ बन्धुशत्रुविषयो रागद्वेषौ निशेधयन्नाह--

ममकारग्रहावेशमूलमन्त्रेषु बनधुषु ।

को ग्रहो विग्रहः को मे पापघतिष्वरातिषु ॥ ३१ ॥

ग्रहः--रागः । निग्रहः--खेषः । पापघतिषु--दुःखोत्पादनक्षरेण पापखपणहेतुषु ॥ ३१ ॥

अथैन्द्रियकसुखदुःखे प्रतिक्षिपन्नाह--

कृतं तृष्णानुषडिण्या स्वसौख्यमृगतृष्णया ।

खिद्ये दुःखे न दुविरकर्मारिखयख्मणि ॥ ३२ ॥

कृतं -- पर्यापतं धिगिमामित्यर्थः । तृषा--वाञ्छा पिपासा वा । खिद्ये -- दैन्यं यामि । यखमा
क्षयव्याधिः ॥ ३२ ॥

तथा अनिष्ट पदार्थके संयोगको दुःखका और उसके वियोगको सुखका कारण मानना केवल मनकी कल्पना
है--

जिस प्रकार मुझे अनिष्ट वस्तुओंका वियोग सुखकर मालूम होता है उसी प्रकार इष्ट पदार्थोंकी
प्राप्ति भी सुखकर मालूम होती है । तथा जिस प्रकार मुझे अनिष्ट संयोग दुःखदायक मालूम होता है उसी
तरह इष्ट वियोग भी दुःखदायक मालूम होता है किन्तु यह सब कल्पना है वास्तविक नहीं । अर्थात्
पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करके उन्हें सुख या दुःखकारक मानना कल्पना मात्र है वास्तवमें
नकोई पदार्थ इष्ट होता है और न अनिष्ट तथ न कोई परपदार्थ सुखदायक होता है और न कोई
दुःखदायक ॥ ३० ॥

आगे मित्रोंसे राग और शत्रुओंसे द्वेषक निषेध करते हैं--

ये बन्धु-बान्धव ममतारूपी भूतके प्रवेशके मूलमन्त्र हैं अतः इनमें केसा राग ? और शत्रु पापकर्मकी
निजरा कराते हैं अतः इनसे मेरा कोई द्वेष ? ॥ ३१ ॥

विशेषार्थ--ये मेरे उपकारी हैं इस प्रकारकी बुद्धि एक प्रकारके ग्रहका आवेश है क्योंकि जैसे कोई
मनुष्य शरीरमें किसी भूत आदिका प्रवेश होनेपर खोटी चेष्टाएँ करता है उसी प्रकार ममत्व बुद्धिके
होनेपर भी करता है । इसका मूलमन्त्र हैं बन्धु-बान्धव, क्योंकि उन्हें अपना उपकारी मानकर ही उनमें
ममत्व बुद्धि होती है । और उसीके कारण मनुष्य मोहपाशमें फँसकर कया-कया कुकर्म नहीं करता । ऐसे
बन्धु-बान्धवोंमें कौन समझदार व्यक्ति राग करेगा जो उसके भाव दुःख के कारण बनते हैं । तथा शत्रु
दुःख देते हैं और इस तरह पूर्व संचित पापकर्मकी निजरा कराते हैं । उनसे द्वेष केसा, क्योंकि पापकर्मकी
निजराके कारण होनेसे वे तो भला ही करते हैं । ऐसा विचार कर राग-द्वेष नहीं करता ॥ ३१ ॥

आगे इन्द्रिय जनय सुख-दुःखका तिरसकार करते हैं--

तृष्णाको बढ़ानेकी इन्द्रिय सुख रूपी मृगतृष्णासे बहुत हो चुका, इसे धिक्कार है तथ जिसको दूर
करना अशक्य है उन कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेमें यक्ष्माके तुल्य दुःखसे मैं खिनन नहीं होता ॥ ३२ ॥

विशेषार्थ--रेतीले प्रदेशमें मध्याह्नके समय सूर्यकी किरणोंसे जका भ्रम होता है प्यासे मृग जल
समझकर उसके पास आते हैं किन्तु उनकी प्यास पानीकी आशासे और बढ़ जाती है, शान्त नहीं होती ।
उसी तरह इन्द्रिय जनय सुखसे भोगकी तृष्णा बढ़ती ही है शान्त नहीं होती । ऐसे सुखको कौन समझदार
चाहेगा । इसके विपरीत दुःखको सहन करनेसे पूर्व संचित कर्मकी निजरा होती है । जब कर्मका विपाक
का आता है व पककर अपना

अथ प्रेक्षावतां दुःसहसंसार दुःखानुभव एव रत्नत्रयानुबन्धाय स्यादित्युपदेशात्प्रमाह--

दवानलीयति न चेज्जनमारामेऽत्र कधी : सता३म् ।

तहिं रत्नत्रयं प्रापतु त्रातुं चेतुं यतेत कः ॥ ३३ ॥

दवानलीयति--दवाग्नाविवाचरति । जनमारामे--जनमसंसार आराम इव, मूढात्मनां प्रीतिनिमित्त-
विषयबहुलतवात् ॥ ३३ ॥

अथ साम्यस्य सिकलसदाचार मूर्धाभिषिक्ततवात् तस्येव भवनायामात्मानमासञ्जयनाह--

सर्वसत्त्वेषु समा सर्वेष्व्वाचरणेषु यत् ।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भवये ॥ ३४ ॥

स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

अथैवं भवचसामायिकमवश्यसेव्यतया संप्रधार्य तदारूढमात्मानं ख्यापयननाह--

मैत्री मे सन्नभूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
सन्नसाव्याविरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत् ॥ ३५ ॥

सावद्याः--हिंसादिपातकयुक्ता मनोवाक्कायव्यापाराः । इति--शुभेऽशुभे वा
केनापीतयादिप्रबन्धोक्तेन प्रकारेण ॥ ३५ ॥

फल देता है तब उसके आना अशक्य होता है । ऐसे दुर्वार कर्मरूपी शत्रु को नष्ट करनेके लिए दुःख क्षमा
रोगके समान है । अतः ऐसे दुःखसे खेदखिन्न कौन होगा । ३२ ॥

बुद्धिमान मनुष्योंके लिए संसारके दुःसह दुःखोंका अनुभव ही रत्नत्रयकी प्रीतिके कारण होता है
ऐसा उपदेश देते हैं --

यदि बुद्धिमानोंकी बुद्धि इस संसाररूपी उद्यानमें वैसा ही आचरण न करती जैसा जंगलकी आगमें
घिर जानेपर करती है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करनेका, उसकी रक्षा
करनेका और उसको बढ़ानेका कौन प्रयत्न करता ? ॥ ३ ॥

विशेषार्थ--संसारको उद्यानकी उपमा इसलिए दी है कि उसमें मूढ पुरुषोंकी प्रीतिके लिए अनेक
विषय रहते हैं । किन्तु विवेकी ज्ञानी उससे उसी तरह बचनेके लिए प्रयत्नशील रहता है मानो वह वनमें
लगी आगसे घिर गया हो । ३ ॥

साम्यभाव समस्त सदाचारका शिरोमणि है । अतः आत्माको उसीभी भावनामें लगानेकी प्रेरणा
करते हैं --

सब प्राणियोंमें अथवा सब द्रव्योंमें साम्यभव रखना सब आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण कहा है ।
अतः उसीको बार-बार चित्तमें धारण करता हूँ ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भवसामायिकको अवश्य करने योग्य निर्धारित करके उसमें आरूढ आत्माके भाव
बताते हैं--

समस्त प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभव है, किसीस मे भी मेरा वैर नहीं है । मैं समस्त सावद्यसे--हिंसा आदि पातकोंसे युक्त मन-वचन कायके व्यापरकसे --निवृत्त हूँ । इस प्रकार मुर्मुक्षुको सामायिक करना चाहिए ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ--सामायिकमें यही भाव रहना चाहिए । इस भावका नाम भवसामायिकि है^१ ॥ ३५ ॥

अथाननयसामानयं सामायिकमाहत्म्यमादर्शयंस्तत्प्रति सुधयः प्रयतेरन्निति शिक्षार्थमाह--

एकत्वेन चरनिनजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः

कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्य भ्दागपि रावकः ।

येनार्हच्छतलिडवानुपरिमग्रैवेयकं नीयते-

ऽभव्योऽपयभ्दुतवैभवेऽत्र न सजेत् सामायिकेकः सुधीः ॥ ३६ ॥

एकत्वेनेत्यादि । आगमभवसामायिकीयासपूर्वकं नोआगमभवसामायिकेन परिणममानस्य स्वविषयेभ्यो विनिवृत्तित (निवृत्त्य) कायवाडमनःकर्मणमात्मना सह वर्तनादित्यर्थः । कैश्चित् -- बाह्यैरभयनतरैर्वा विकारकारणैः । यतिवत्--हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यनतरप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनितमनदावितिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यत इति कृत्वा यतिना तुल्यं वर्तमानः । यथाह--

सामाड्यमिह दु कदे समणो इव सावओ हवदि जम ।

एदेण कारणेण दु बहुसो सामाड्यं कुज्जा^१ । [मूचार., गा. ५३१]

येनेत्यादि । उक्तं च चारित्रसारे--'एवं कृत्वाऽभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिडधारिण एकादशाडाध्यायिनो महाव्रतपरिलानादसंयमभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासिता उपपन्ना भवतीति ॥ ३६ ॥

सामायिकका असाधारण माहात्म्य बतलाकर बुद्धिमानोंको उसके लिए प्रयत्न करनेकी शिक्षा देते हैं--

संयमी मुनिकी तो बात ही क्या, जिस सामायिकका पालक देश संयमी रावक भी मन-वचन-कायके व्यापरसे निवृत्त होकर अपनी आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व भवसे रहित एक ज्ञायक भावसे प्रवृत्त होता हुआ मुनिकी रह किन्हीं भी अीयनतर या बाह्य विकारके कारणों से कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होता । तथा जिस सामायिकके प्रीवसे एकादशंगका पाठी और द्रवयनिर्ग्रन्थ जिनलिंगका धरी अभव्य भी आठ ग्रैवेयक विमानोंसे उपर और नौअनुदिश विमानोंके नीचे स्थित ग्रैवेयकमें जन्म लेता है, उस आश्चर्यनजक प्रभवशाली सामायिकमें कौन विविकी ज्ञानी अपनेको न गाना चाहेगा ॥ ३६^१ ।

विशेषार्थ--यहाँ देशविरत श्रावकको सर्वविरत मुनिके तुय का है क्योंकि श्रावकका चित्तभी हिंसा आदि सब पापोंमें अनासक्त रहता है तथा यद्यपि उसके संयमको घतनेवारली प्रत्याख्यानवरण कषायका

उदय रहता है किन्तु वह मन्द उदय होता है इसलिए उसके उपचारसे महाव्रत भी मान लिया जाता है ।
आचार्य समनतभद्रने कहा है -- प्रत्याख्या नावरण कषयका उदय मन्द होनेसे चारित्रमोहरूप परिणाम
अतिमन्द हो जाते हैं कि उनका अस्थित्व जानना भी कठिन होता है । उसीसे महाव्रतकी कल्पना की
जाती है^६ अतः सामायिक रावकके लिए भी आवश्यक है^६ वह पहले आगमभव सामायिकका अभ्यास करता
है अर्थात् सामायिक विषयक शास्त्रोंका अभ्यास करता है ॥ नोआगमभाव सामायिकमें लगता है अर्थात्
सामायिक करता है । मूलाचारमे कहा भी है ।-- सामायिक करनेपर यतः श्रावक मुनिकेतुल्य होता है अतः
बार-बार सामायिक करना चाहिए ।'

सामायिकके प्रभवसे ही जिनागमका पाठी और जिनलिंगका धारी अभव्य भी नवम ग्रैवेयक तक
मरकर जाता है--चारित्रसार (पृ. ११) में कहा है -- 'ऐसा होनेसे निर्ग्रन्थ

अथैवं सामायिकं व्याख्यायेदानीं चतुर्विंशतिस्तवं नविभः पद्यैर्व्याख्यातुकामः पूर्व तल्लक्षणमाह--

कीर्तनमर्हत्केवलजिनोकोद्योतधर्मतीथकृताम् ।

भक्त्या वृषभादीनां यत्य चतुर्विंशतिस्तवः षोढा ॥ ३७ ॥

कीर्तनं--प्रशंसनम् । अर्हन्तः -- अरेर्जनमनश्च हन्तृत्वात् पूजाद्यर्हत्वाच्च । उक्तं च--

'अरिहंति वंदणमंसाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।

आरिहंति सिद्धिगमणं अरिहंता तेण उच्चंति ॥' [मूलाचार, ५६२ गा.]

केवलिनः -- सब्रद्रवयपर्यायसाक्षात्कारिणः । जिनाः--अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मरातीन्
जितवनतः । लोकोद्योताः-- नामादिनवप्रकारोकस्य भावेनोद्योतका तार इत्यर्थः । नवधा लोको यथा--

'नामद्वयं दववंखेत्तं चिण्हं कसाय लोओ य ।

भवोग भावोगो प-योगो य णायव्वो ॥' [मूलाचार, गा. ५४१]

अत्र यानि कान्यपि लोके शुभान्यशुभानि वा नामानि स नामलाक । । तथा यत् किंचिल्लोके
कृत्रिमकृत्रिमं वाऽस्ति स स्थापनालोकः । तथाषड्द्रव्यप्रपञ्चो द्रव्योकः । उक्तं च--

'परिणामि जीव मुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया यं

णिच्चं कारण कता सब्वगदिदरम्हि य पएसो ॥' [मूलाचार, गा. ५४५]

लिंगका धारी और ग्यारह अंगोंका पाठी अभव्य भी भवसे असंयमी होती हुए भी महाव्रतोंका पान करनेसे
उपरिम ग्रैवेयकके विमानमें उत्पन्न होता है^६ । ३६ ॥

इस प्रकार सामायिकका कथन करके अब नौ पोंसे चतुर्विंशतिस्तवका कथन करते हुए पहले उसका क्षण कहते हैं--

अर्हत्, केवली, जिन, लोकका उद्योत करनेवाले अर्थात् ज्ञाता तथ धर्मतीर्थके प्रवर्तक 'ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंका भक्तिपूर्वक सतवन करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। उसके छह भेद हैं ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ--अरिहन्त और अर्हन्त ये दोनों प्रकारान्तरसे एक ही अवस्तीके वाचक हैं। मोहनीय कर्म जीवका प्रबल शत्रु है क्योंकि समस्त दुःखोंकी प्राप्तिमें निमित्त है। यद्यपि मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर भी कुठ का तक शेष कर्मोंका सत्त्व रहात है किन्तु मोहनीय के नष्ट हो जानेपर शेष कर्म जनममरणरूपी संसारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। अतः उनका होना न होनेके बराबर है। इसलिए तथा आत्माके केवलज्ञान आदि समस्त आत्मकगुणोंके प्रकट होनेमें प्रब रोधक होनेसे मोहनीय कर्म अरि है उसे घतनेसे अरिहन्त कहाते हैं। तथा साहितशय पूजाके योग्य होनेसे उन्हें अर्हन्त कहते हैं। कहा है--यतः चवे नमस्कार और वनदनाके याकय हैं, पूजा ओर सत्काके योग्य हैं, तिला मुक्तिमें जानेके योग्य हैं इसलिए उन्हें अर्हन्त कहते हैं। तथा सब द्रव्यों और सब पर्यायोंका प्रत्यक्ष ज्ञाता-- द्रष्टा होनेसे केवली कहे जाते हैं। अनेक भवोंके भयंकर कष्टोंके कारण कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जिन कहे जाते हैं। नाम आदिके भेदसे नौ प्रकारके लोकके भावसे उद्योतक अर्थात् ज्ञाता होते हैं। लोक नौ प्रकार इस तरह कहे हैं--'नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, खेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नौ भेद लोकके हैं।' लोकमें जो भी शुभ या अशुभ नाम है वह नामलोक है। लोकमें जो भी अकृतित्रम अर्थात् स्वतः स्थपित और कृत्रिम (स्थपित) है वह स्थापनालोक है। छह द्रव्योंका समूह द्रव्यलोक है। कहा है--परिणाम अन्यथाभाव (परिवर्तन) को कहते हैं। यहाँ व्यंजन पर्याय

परिणामोऽन्यथाभावः । स चात्र व्यञ्जनपर्यायः । तद्वनतौ जीवपुद्गावेव तिर्यगादिगतिषु भ्रमणोपम्भात्, ष्टादिभवेन परिणमनप्रतीतेष्व । शेषाणि चत्वारि धर्माधर्मादिद्रवयाण्यपरिणामीनि वयञ्जनपर्यायाभावात् । अर्पिपर्यायापेक्षया पुनः षडपि परिणामीन्येव । जीवश्चेतनालक्षण आत्मैव इ तातृत्वदृष्टत्वात् । पञ्चाऽन्येऽजीवाः । मूर्त पुद्गलद्रव्यं रुपादिमत्त्वात् ङपञ्चान्ये त्वमूर्ताः । सप्रदेशा जीवादय पञ्च प्रदेशवत्त्वदर्शनात् । काणवः परमाणुश्चाप्रदेशाश्ः प्रचयबंधाभावात् । एकरूपाणि धर्माधर्माकाशानि सर्वदा पेदेशविघटनाभावात् । संसारिजीवपुद्गकास्त्वनेकरूपाः प्रदेशानां भेदोपम्भात् । खेत्रमाकाशं सर्वेषमाधारत्वात् । पञ्चान्ये ऽखेत्राध्यवगाहनक्षणाभावात् । क्रिया जीवपुद्गयोर्गतिमत्त्वात् । अन्ये त्वक्रियाः । नित्या धर्माधर्माकाशकाला व्यञ्जनपया र्यापेक्षया विनाशाभावात् । अन्यावनित्यौ । कारणानि जीववर्जानि पञ्च जीवं प्रति उपकारकत्वात् । जीवसत्त्वकारणं स्वतनत्रत्वात् । कर्ता जीवः शुभशुभफलभोक्तृत्वात् । पञ्चान्येऽकर्तारः । सर्वगतमाकाशम् । पञ्चान्ये त्वसर्वगताः । इतरेषवप्यपरिणामित्वादिधर्मेषु जीवादीनां प्रवेशा व्याखात एव । सप्रदेशमधस्तिर्यगूध्दर्व लोकविभक्तमाकाशं खेत्रलोकः । द्रव्यगुणपर्यायाणां संस्थानं चिह्नलोकः ङ क्रोधदय उदयमागताः कषायलोकः । नाराकादियोनिगताः सत्त्वा भवलोकः । तीव्ररागद्वेषादयो भावलोकः । द्रव्यगुणादिभेदाचतुर्धा पर्यायलोकः । उक्तं च--

लेना चाहिए । ऐसे परिणामी जीव और पुद्गल ही हे 'क्योंकि जीवका तिर्यच आदि गतिमें भ्रमण पाया जाता है और पुद्गलका लोष्ठ आदि रूपसे परिणमन देखा जाता है । शेष चार धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और काद्रव्य अपरिणामी हैं क्योंकि उनमें व्यंजन पर्याय नहीं होती । किन्तु अर्थ पर्यायकी अपेक्षा छहों द्रव्य परिणामी हैं । चेतना क्षणवाला आत्मा ही जवीव है । क्योंकि वह लाता-द्रष्टा है । शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं । मूर्त पुद्गल द्रव्य है क्योंकि उसमें रूप आदि पाये जाते हैं । शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश सप्रदेशी हैं, क्योंकि उनमें बहुप्रदेशीपना है । कालाणु और परमाणु अप्रदेशी हैं । धर्म, अधर्म, आकाश एकरूप हैं क्योंकि उनके प्रदेशोंका की भी विघटन नहीं होता । संसारी जीव, पुद्गल और काल अनेकरूप हैं क्योंकि उनके प्रदेशोंमें भेद देखा जाता है । क्षेत्र आकाश है क्योंकि सबका आधार है शेष पाँच द्रव्य अक्षेत्र है क्योंकि उनमें अवगाहनरूप लक्षणका अभाव है क्रिया जीव और पुद्गलमें है क्योंकि वे क्रियावान है शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं । धर्म, अधर्म, आकाश और का नित्य हैं क्योंकि व्यंजन पर्यायका अभाव होनेसे उसकी अपेक्षा उनका विनाश नहीं होता । शेष द्रव्य अनित्य हैं क्योंकि उनमें व्यंजन पर्याय होती हैं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, का और आकाश कारण है क्योंकि जीवका उपकार करते हैं । जीव कारण नहीं है क्योंकि वह स्वतन्त्र है । शुभ-अशुभ फलका भोक्ता होनेसे जीव कर्ता है । शेष द्रव्य शुभ-अशुभ फलका भोक्ता न होनेसे अकर्ता हैं । आकाश सर्वत्र पाया जाता है अतः सर्वगत है, शेष द्रव्य सर्वत्र न पाये जानेसे असर्वगत है । इस प्रकार परिणामी, अपरिणामी आदि रूपसे द्रव्योक्त होता है । अधोलोक, मध्योक और ऊर्ध्वलोकमसे विभक्त सप्रदेशी आकाश क्षेत्रलोक है द्रव्य गुण पर्यायोंके संस्थानको चिह्नोक कहते हैं । अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्योंका लोकाकार रूपसे संस्थान, आकाशका केन्द्रलज्जानरूपसे संस्थान, लोकाशका घर, गुफा आदि रूपसे संस्थान, पुद्गल द्रव्यका लोकस्वरूपसे अथवा द्वीप, नदी, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी आदि रूपसे संस्थान तथा जीव द्रव्यका समचतुरस्त्र आदि रूपसे संस्थान द्रव्यसंस्थान है गुणोंका द्रव्याकार रूपसे

दववगुणखेत्तपज्जय भवाणुभवो य भावपरिणामो ।

जाण चउव्विहभेयं पज्जयलोगं समासेण ॥ [मूलाचार, गा. ५५१]

तत्र द्रव्यगुणा जीवस्य ज्ञानादयः, पुद्गस्य स्पर्शादयो धर्माधर्माकाशकालानां च गतिस्थित्यवगाह-
हेतुत्ववर्तनादयः । क्षेत्रपर्याया रत्नप्रभा-जम्बूद्वीपजुविमानादयः । भवानुभव आयुषो
जधनयमध्यमोत्कृष्टविकपः । भवपरिणमोऽसंख्येयोक्प्रमणशुभशुभजीवभावः कर्मादशनपरित्यागसमर्थ इति
। धर्मतीर्थकृतः- धर्मास्य वसतुयाथत्यस्योत्तमखमादेर्वा तीर्थं शास्त्रं कृतवन्त उपदिष्टवनतः ।
चतुर्विंशतिस्तवः-- अनेकतीर्थकरदेवगुणव्यावर्णनं चतुर्विंशतिशब्दस्यानेकोपक्षणत्वात् ॥ ३७ ॥

अथ नामादिसतवभेदो वयवहारश्चियाभ्यां विभजन्नाह--

स्युर्नामस्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काश्राःस्तवाः ।

व्यवहारणे पञ्चार्थादेको भावस्तवोऽहंताम् ॥ ३८ ॥

स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

अथ नामस्तवसवरूपमाह--

अष्टोत्तरसहस्रत्रस्य नाम्नामन्वर्थमहर्घाम् ।

वीरानतानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥ ३९ ॥

नाम्नां--रीमदादिसांनानाम् । तानि चार्षे पञ्चविंशतितमे पर्वणि --

श्रीमान्स्वयंभूर्वीः शंभवः शम्भुरात्मभूः ।

स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्त्री विश्वभूरपुनर्भवः ॥'

इत्यादिना

शुभंर्यः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरानामयः ।

धर्मपालो जगत्पाो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥ ' [महापु. २५।१००-२१७]

संस्थान गुणसंस्थान है । पर्यायोंका दीर्घ, ह्रस्व, गोल, नारक, तिर्यच आदि रूपसे संस्थान पर्यायसंस्गीन है । ये बसब चिह्नोक हैं । उदयप्राप्त क्रोधदि कषायोक हैं । नारक आदि योनियोंमें वर्तमान जीव भवोक है तीव्र राग-द्वेष आदि भवोक है ।

पर्याय लोकके चार भेद हैं--जीवके ज्ञानादि, पुद्गलके स्पर्श आदि, धर्म, अधर्म, आकाश कालके गतिहेतुता, स्थितिहेतुता. अवगाहहेतुता और वर्तना आदि ये द्रव्योंके गुण, रत्नप्रभा पृथिवी, जम्बूद्वीप, ऋजु विमान आदि क्षेत्र पर्याय, आयुके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद, जीवके असंख्यात लोक प्रमाण शुभ अशुभ भव, जो कर्मोंके ग्रहण और त्यागमें समर्थ होते हैं, ये संखेपमें पर्याय लोकके चार भेद हैं । इस प्रकार अर्हनतोंका, केवलियांका, जिनोंका, लोकके उद्यालातकोंका, और धर्मतीर्थके कर्ता ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकरोंका भक्ति पूर्वक गुणकीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है ॥ ३७ ॥

आगे व्यवहार और निश्चयसे स्तवके भेद कहते हैं--

चौबीस तीर्थकरांका स्तवन व्यवहारसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र ओर कालके आश्रयसे पाँच प्रकारका है । और परमार्थसे एक भवस्तव है ॥ ३८ ॥

नाम स्वतवका स्वरूप कहते हैं--

भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थकरांका एक हजार आठ नामोंके द्वारा जो अर्थानुसारी निरुक्ति की जाती है उसे उक्त स्तवोंमें से नामस्तव कहते हैं ॥ ३९ ॥

इत्येतेन प्रबन्धेनोक्तानि प्रतिपत्तव्यानि । अन्विं--अभिधेयानुगतम् । तद्यथा--श्रीः अनतरडाऽननतड
ानादिक्षण बिहिरडा च समवसणाष्टमहाप्रातिहार्यादिस्वभवा क्षमीरस्यातिशयेन हरिहराद्यसंभवित्वेनासतभति

रीमान् । स्वयं परोपदेशमनतरेण मोक्षमार्गमवबुध्यानुष्ठाय चाननतचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयंभूः । तथा, वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः । तथा, शं--सुखं भवतयस्माद् भव्यानर्थत शंभवः । एवमन्येषामपि मिथ्याम्नायमन्वर्थता चिन्त्या । तथाहि--

'ध्यानद्रुघणनिभिन्नघनघातिमहातरुः ।
अननतभवसंतानजयादासीरननतजित् ॥
त्रौक्यनिर्जयावापतदुर्दुर्पमदुर्जयम् ।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिनमृत्युंजयो भवान् ॥' [महापु., २५/६९-७०]

इत्यादि ।

व्यावहारिकत्वं च नामस्तवस्य (-स्तुत्येस्य-) परमात्मनो वाचामगोचरत्वात् ।
तथा चोक्तमार्षे--

'गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवागोचरो मतः ।
स्तोतुस्तथाप्यसंदिग्धं त्वतोऽभीष्टफलं भवेत् ॥' [महापु. २/२१९]

तथा--

'संज्ञासंज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसाय नमः खायिकदृष्टये ॥' [महापु. २५/९५]

वीरानतानां--वृषभदिवर्धमानानतानां तीर्थकराणां चतुर्विंशतेः । सामान्यविवक्षया चायं नामसतवश्चतुर्विंशतिरपि तीर्थकृतां रीमदादिसंज्ञावाच्यत्वाविशेषात् । विशेषापेक्षया तु वृषभादिचतुर्विंशतेः । पृथङनाम्नां निर्वचनमुच्चारणं वा नामस्तवः । यथा सर्वभक्ताक् 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवः । 'चउवीसं तित्थयरे' इत्यादिर्वा । 'ऋषभोऽजितनामा च ' इत्यादिर्वा ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ--महापुराणके पच्चीसवें पर्वमें एक हजार आठ नामोंके द्वारा भगवान् ऋषभ देवकी जो स्तुति की गयी है वह नामस्तव है । यह स्तव अन्वर्थ है । जैसे भगवान्को श्रीमान् स्वयम्भू, वृषभ । सम्भव आदि कहा गया है । सो भगवान् तीर्थकर ऋषभदेवके अनतरंग ज्ञानादि रूप ओर बहिरंग समवसरण अष्ट महा प्रतिहार्यादि रूप श्री अर्थात् लक्ष्मी होती है इसलिए उनका रीमान् नाम सार्थक है । तथा भगवान् परके उपदेशके विना स्वयं ही मोक्षमार्ग को जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनत चतुष्टय रूप होते हैं इसलिए उन्हें स्वयम्भू कहते हैं । वे वृश अर्णीत् धर्मसे शोभित होते हैं इसलिए उन्हें वृषभ कहते हैं । उनकसे भव्य जीवोंको सुख होता है इसलिए सम्भव कहते हैं । इसी तरह सभी नाम सार्थक हैं ।

इस प्रकारका नाम स्तव व्यावहारिक है क्योंकि सतुतिके विषय परमात्मा तो वचनोंके अगोचर हैं । जिनसेन स्वामीने कहा है--हे भगवान् । इन नामोंके गोचर होते हुए भी आप वचनोंके अगोचर माने गये हैं । फिर भी स्तवन करनेवाला आपसे इच्छित फल पा लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं है । सामान्यकी विवक्षा होनेपर सयह नामसतव चौबीसों ही तीर्थकरोका है क्योंकि सभी तीर्थकर 'रीमान् आदि नामोंके द्वारा कहे जा सकते हैं । विशेषकी अपेक्षा चौबीसों तीर्थकरका भिन्न-भिन्न नामोंसे स्तवन करना भी नामस्तव है ॥ ३९ ॥

अथ स्थापनासतवमाह-

कृत्रिमाकृत्रिमा वण्प्रमाणायतनादिथीः ।

व्याण्वर्ण्यनते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनासतवः ॥ ४० ॥

आयतनं--चैत्यायः । आदिशब्देन संस्थानदीपत्यादयः । जिनेन्द्रार्चाः--जिनेन्द्राणां तीर्थकराणां चतुर्विंशतेरपरिमितानां वा अर्चाः प्रतिमाः । तत्र चतुर्विंशतेः कृत्रिमा) इतरेषां चाकृत्रिमा) इति योज्यम् । उक्तं चाचारटीकायाम--'चतुर्विंशतितीर्थकराणामपरिमितां वा कृत्रिमाकृत्रिस्थापनानां स्तवनं चतुर्विंशति-स्थापनास्तव इति अथवा अकृत्रिमा इत्युपचारादुभयत्रापि योज्यम् ॥ ४० ॥

अथ द्रव्यस्तवमाह--

वपुर्लक्ष्मणुणोच्छायजनकादिमुखेन या ।

लोकोत्तमानां संकीर्णशिचत्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः ॥ ४१ ॥

लक्ष्मिणि--रीवृक्षदिक्षणानि वृषभादिञ्छनानि च । तत्राष्टोत्तरशतं लक्षणानि व्यञ्जनानि च नवशतानि आर्षे पञ्चदशे पर्वणि । तानि 'श्रीवृखशंखाब्ज' इत्यादिना ' व्यञ्जानानयपराण्यासन् शतानि नवसंख्यया' इत्यनतेन प्रबन्धेनोक्तानि वेदितव्यानि । चिनहानि यथा--

'गौगंजोऽश्वः कपिः काकः सरोजं स्वतिस्तकः शशी ।

मकरः रीयुतो वृक्षो गण्डो महिषसूकरौ ॥'

'सेधा वज्रं मृगश्छागः पाठीनः कशस्तथा ।

कच्छपश्चोतपं शंखो नागराजश्च केशरी ॥

इत्येनयुक्तदेशेषु ऽञ्छनानि प्रयोजयेत् । []

स्थापना स्तवको कहते हैं--

चौबीस अथवा अपरिमित तीर्थकरोकी कृत्रिम और उकृत्रिम प्रतिमाओंका जो रूप, ऊँचाई चैत्यालय आदिके द्वारा स्तवन किया जाता है उसे स्थापना स्तव कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना हि चौबीस तभीरकरोकी मूर्तियाँ तो कृत्रिम होती हैं किसीके खरा बनायी जाती हैं। शेष अकृत्रिम होती हैं ॥ ४० ॥

द्रव्य स्तवको कहते हैं --

शरीर, चिह्न, गुण, ऊँचाई और माता पिता आदि की मुख्यता से जो लोकोत्तम तीर्थकरोका स्तवन किया जाता है वह आश्चर्यकारी अथवा अनेक प्रकारका द्रव्य स्तव है ॥ ४१ ॥

विशेषार्थ--शरीरके द्वारा स्तवनका उदाहरण इस प्रकारे है --नौ सौ व्यजन और एक सौ आठ लखणोंके द्वारा शोभित और जिगत्को आनन्द देनेवाला अर्हनतोंका शरीर जयवनत होओ। मैं उन जिनेन्द्रोंको नमस्कार करता हूँ। जिनके मुक्त होनेपर शरीरके परमाणु बिजलीकी तरह स्वयं ही विशीर्ण हो जाते है।

गुणाः--निःसवेदत्वादयो वर्णादयश्च । वर्णमुखेन यथ--

'रीचनद्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी,
रक्ताम्भोजपाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ।
कृष्णौ सुव्रतयादवोच हरितौ पार्श्वः सुपाश्वंश्च वै,
शेषाः सनतु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे ॥' []

उच्छ्रायः--उत्सेघः । तनमुखेन यथा--

'नाभेयस्य शतानि पञ्चधनुषां मानं परं कीर्तितं
सभ्दिसतीर्थकराष्टकस्य निपुणैः पञ्चाशदूनं हि तत् ॥
पञ्चानां च दशोनकं भुवि भवेत् पञ्चोनकं चाष्के
हस्ताः स्युर्नव सपत चान्त्यजिनयोर्येषां प्रभ नौमि तान् ॥' []

जनकादि--जनकश्च जननी च जनकौ मातापितरौ । मातृद्वारेण यथ --

यहाँ शरीरपर पाये जाने वो तिल, मसक आदि चिह्नोंको व्यंजन कहते हैं और शंख, कमल आदिको लक्षण कहते हैं। महापुराणके पन्द्रहवें सर्ग में एक सौ आठ क्षणोंको तथानौ सौ वयंजनोंको बताया है ॥ ४१ ॥

तीर्थकरोके चिह्न इस प्रकार कहे हैं--बैल, हाथी, घोडा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वसितक, चन्द्रमा, गोण्डा, भेंसा, शूकर, सेही, वज्र, मृग, बकरा, मत्स्य, कलश, कछुआ, नीलकम, शंख, सब्र और सिंह ये क्रमसे चौबीस तीर्थकरोके चिह्न हैं। पसीना न आना आदि गुणके खरा स्वतवन इस प्रकार होता है। कभी पसीना न आना, मूत्रका न होना समचतुरस्त्र संस्थान, वज्र ऋषभनाराच संहनन, अत्यन्त सुगन्ध, उत्कृष्ट सौन्दर्य, एक हजार आठ लक्षण और व्यंजन, अननतवीर्य, हि तरुप प्रिय वचन, श्वेत वर्णका रक्त ये अर्हनतके शरीरमें दश स्वाभाविक अतिशय होते हैं।'

वर्णके द्वारा स्तुतिका उदाहरण स प्रकार है--श्रीचन्द्रप्रभनाथ और पुष्पदन्तके शरीरका वर्ण कुन्द
पुष्पकेसमान श्वेत है । पद्म प्रभके शरीरका वर्ण लाल कमकेसमान और वासुपूज्यकापाशकेसमानलाल है ।
मुनि सुर्वत नाथ और नेमिनाथके शरीरका रंग काला है । पार्श्व और सुपार्श्वका शरीर हरितवर्ण है । शेष
सोह तीर्थकरोंका शरीर सुवर्णकेसमान है । ये सभी तीर्थकर मेरे पापोंका नाश करें ।

तिलोयपण्णति (४/६०४) में सुपार्श्वनाथका चिह्न नन्द्यावर्त, और शीतलनाथका चिह्न 'सोतीय' का है
जिसका अर्ण स्वस्तिक किया गया है । तथा अरहनाथका चिह्न तगर कुसुम कहा है जिसका अर्ण
मत्स्य किया है । श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने शीतलनाथका चिह्न श्रीवतस, अननतनाथका चिह्न
श्येन और अरहनाथका चिह्न नन्द्यावर्त कहा है । इस तरह चिह्नोंमें मतभेद है ।

'निःस्वेदत्वमनारतं विमलता संसृग्गिनमात्रां शुभम् ङ

तद्वत्संहननं भृशं सुरिभता सोरुप्यमुच्चैः परम् ।

सौक्षण्यमननतवीर्यमुदितिः पथ्या प्रियाऽसृक् च यः ।

शुभ्रं चातिशया दशेह सहाऽसन्त्वर्हदजानुगाः ॥ []

तिलोयपण्णति (४/५८८) में मुनिसुव्रत और नेमिनाथको नीवर्ण कहा है । तिला हेमचन्द्रने मल्लि और
पार्श्वको नीवर्ण कहा है । हरितवर्ण किसी भी तीर्थकरको नहीं कहा, सुपार्श्वको शेषसोलहमें लिया
है ।

'मात्रा तीर्थकडराणं परिचरणपरश्रीप्रभृत्योभदवादि-

श्रीसंभेदाग्रहूता रजनिविरमणे स्वप्रभजेक्षिता ये ।

श्री भेक्षेभारिमास्त्रक्शाशिरविज्ञाषकुम्भजषण्डाब्धिपीठ-

द्योयानाशीविषोको वसुचयशिखिनः सनतु ते मडं नः ॥ []

आदिशब्देन कानत्यादिद्वारेण यथा--

'कानत्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुनधन्ति ये

धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।

दिव्येन ध्वनिना सुखं रवणयोः साक्ष्वात् खरन्तोऽमृतं

वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रत्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा सूरयः ॥ [समयसारकश, २४ शो.]

तथा--

'येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः शक्रदिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः ।

ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपासीथंकराः सततशानितकरा भवनतु ॥'

'जैनेन्द्राक्षौमिताऽन्येषां शारीराः परमाणवः ।

विद्युतामिव मुक्तानां स्वयं मुञ्चति संहतिम् ॥ []

शरीरकी ऊँचाईको लेकर नमस्कार करनेका उदाहरण यथा--आदिनाथके शरीरकी ऊँचाई ५० धनुष, अजितनाथकी ४५० धनुष, सम्भवनाथकी ४०० धनुष, अभिनन्दननाथकी ३५० धनुष, सुमतिनाथकी ३०० धनुष, पद्मप्रभकी २५० धनुष, सुपार्श्वनाथकी २०० धनुष, चन्द्रप्रभकी १५० धनुष, पुष्पदन्तकी १०० धनुष, शीतलनाथकी ९० धनुष, रेयांसनाथकी ८० धनुष, वासुपूज्यकी ७० धनुष, विमलनाथकी ६० धनुष, अननतनाथकी ५० धनुष, शर्मनाथकी ४५ धनुष, षानितनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५० धनुष, अरहनाथकी ५० धनुष, धर्मनाथकी ४५ धनुष, शानितनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, अरहनाथकी ३० धनुष, मल्लिनाथकी २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, नमिनाथकी १५ धनुष, नेमिनाथकी १० धनुष, पार्श्वनाथकी ९ हाथ और महावीर स्वामीकी ७ हाथ ऊँचाई है। मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

माताकेद्वारा स्तवनका उदाहरण--'क्षायिक सम्यग्दृष्टि और उत्कृष्ट बुद्धिशी कुलकरांका जो वंश हुआ उसमें, तिला आदि ब्रह्मा आदिनाथने कर्मभूमिके प्रारम्भमें जिन इक्ष्वाकु, कुरु, उग्रनाथ, हरविंशकी स्थापना की थी, जो वंश गीर्थाधान आदि विधिकी परम्परासे लोकपूज्य हैं, उनके जनम देनेवाभी आर्यभूमिके स्वाभमी जिनके जीवननाथ हैं तथा जिनका जनम उत्तम कुलमें हुआ है वे जैनतीर्थंकरोंकी मताएँ जयवनत हों।'

माताके द्वारा देखे कये स्वपनोंके द्वारा किया गया स्वतन भी द्रव्यस्तवन है। जैसे--श्री आदि देवियोंके द्वारा सेवित तीर्थंकरोंकी माताने रात्रिके पिछले पहरमें ऐरावत हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मती, माला, चन्द्रमा, सूर्य, मीन, कलश, कमलवन, समुद्र, सिंहासन, देव विमान, नागेन्द्रका भवन, रत्नाराशि तिा निर्धूम वह्नि ये सोह स्वप्न देखे, जो तर्करांके जनम आदि अतिशयोंके सूचक अग्रदूतके समान हैं, वे स्वपन हमारे लिए मंगलकारक हों।

शरीरकी कानित आदिके खरा तीर्थंकरोंके स्तवनका उदाहरण--जो अपने शरीरकी कानितसे दस दिशाओंको स्नान कराते हैं, अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवो सूर्यके भी तेजको रोक देते हैं, अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनिकेद्वारा भव्यजीवों के कानोंमें साक्षात् सुखरूप अमृतकी वर्षाकरते हैं, वे एक हजार आठ लक्षणोंके धारी

लोकोत्तमानां--परभगप्रापतप्रभुत्वभक्वात्तीर्थकृताम् । यदा--

'तित्थयराण पहुत्तं णेहो बलदेव-केसवाणं च ।

दुक्खं च सवत्तीणं तिण्णि वि परीगपत्तइं ॥' [] ॥ ४१ ॥

अथ क्षेत्रस्तवमाह--

क्षेत्रस्तवोऽहंतां स स्यात्तत्स्वग्रावतरादिभिः ।

पूतस्य पूर्वनाद्र्यादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ॥ ४२ ॥

पुरित्यादि-- पुरोऽयोध्यादयः । वनानि सिध्दार्थादीनि । अद्रयः--कैसादयः । आदिशब्देन
नद्यादिपरिग्रहः ॥ ४२ ॥

अथ कास्तवमाह--

कालस्तवस्तीथिकृतां स लोयो यदनेहसः ।
तद्गभ्रवतराद्युध्दक्रियादृपतस्य कीर्तनम् ॥ ४३ ॥

स्पष्टम् ॥ ४३ ॥

तीर्थकर वन्दनीय हैं । तथा--इन्द्र आदि देवगणोंने जनमयाणकके समय जिनको मुकुट, कुण्डल और
रत्नहारसे भूषित किया तथा चरणकमलोंकी स्तुति की, उत्तम वंश तथा जगत्के लिए दीपकके तुय तीर्थकर
जिनेन्द्र मुझे सदा शानितदायक हों ।

दीक्षा वृक्षोंके द्वारा भगवान्की सतुतिका उदाहरण--वेट, सप्तच्छद, शाल, सरल, प्रियंगु, शिरीष,
नागकेशर, सा, पाकर, रीवृक्ष, तेंदुआ, पाटा, जृमुन, पीपल, कैल, नन्दीवृक्ष, नारंगवृक्ष, आम्र, अशोक,
चम्पक, वकुल, वांशिक, धव, शाल ये चौबीस तीर्थकरोंके दीक्षावृक्ष हैं । इन वृक्षोंके नीचे उन्होंने दीक्षा
धारण की थी । 'लोकोत्तम' शब्दसे तीर्थकर ही लिये जाते हैं क्योंकि उनकी प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट होती है ।
कहा है--तीर्थकरोंका प्रभुत्व, बलदेव और नारायणका स्नेह और सपत्नीका दुःख ये तीनों सर्वोत्कृष्ट होते
हैं । यह द्रवयस्तवका स्वरूप है ॥ ४१ ॥

आगे क्षेत्रस्तवको कहते हैं--

तीर्थकरोंके स्वर्गावतरण, जनम, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाणकयाणकोंसे पवित्र अयोध्या आदि नगर,
सिध्दार्थ आदि वन और कैस आदि पर्वत प्रदेशका जो स्तवन है वह क्षेत्रस्तव है ॥ ४२ ॥

कालस्तवको कहते हैं--

तीर्थकरोंके गर्भावतरण, जनम, तप, ज्ञान और निर्वाणकलयाणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे गर्वयुक्त
हुए काका वर्णन तीर्थकरोंका कालस्तव है अर्थात् जिन समयोंमें कयाणकी क्रियाएँ हुई उनका स्तवन
कास्तव है ॥ ४३ ॥

अथ भावस्तवमाह--

वर्णनतेऽननयसामान्या यत्कैत्रल्यादयो गुणः ।
भावकैभ्रविसत्रस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः ॥ ४४ ॥

भावसर्वस्वदिशां--जीवादिपर्दाथारितद्रव्यगुणपर्यायसंपदुपदेशिन् । भावस्तवः । स स्वयंकृतो यथा--

विवर्तेः स्वैद्रव्यं प्रतिसमयमुद्य् व्ययदपि

स्वरुपादुल्लोलैर्जलमिव मनारगप्यविचलत् ।

अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिलं

प्रमिन्वानाः स्पष्टं युगपदिह नः पानतु जिनपाः ॥ []

एष एव भगवतां वास्तवसतवः केवलज्ञानादिगुणानां तद्वतां चाव्यतिरेकादेकयसंभवात् । यिाह--

'तं णिच् ण जुंजइ ण सरीरगुणा हि हुंति केवलिणो ।

केवलिणो थुणइ लो सो सच्चं केव्ही थुणइ ॥' [समयप्रा., गा. २९] ॥ ४४ ॥

भावस्तवको कहते हैं--

भवनामें लीन भव्योंके द्वारा जो केवलज्ञान आदि असाधारण गुणोंका वर्णन किया जाता है वह जीवादि पदार्थके आरित द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पदाका उपदेश देनेवोंका भावस्तव है ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ--तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनिके लारा जीवादि पदार्थोंके स्वरुपका उपदेश करते समय द्रव्य-गुण-पर्यायका विवेचन करते हैं । वे जीवकी शुद्ध दशा और अशुद्ध दशाका विभेद करके शुद्ध जीवके स्वरुपका कथन करते हैं । शुद्ध जीवके असाधारण गुणोंका स्तवन भावस्तव है ।

आशाधरजीने अपनी टीकामें इसका एक स्वरचित उदाहरण दिया है जिसका भाव है--'जैसे जलमें प्रतिसमय लहरें उठती हैं और विलीन होती हैं फिर भी जल स्वभावसे निश्चल ही रहता है उसी तरह हद्रव्य भी प्रतिसमय अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता और नष्ट होता हुआ भी स्वभवेस रंचमात्र भी विचलित नहीं होत सदा एकरुप ही रहता है । इस प्रकार कालके प्रभावसे होनेवाले समस्त उत्तरोत्तर नये-नयेपनेको एक साथ स्पष्ट रूपसे जाननेवाले जिनदेव हमारी रक्षा करें ।'

वास्तवमें भावस्तव ही याथार्थ स्तव है क्योंकि केवलज्ञानादि गुणका शुद्धात्माक साथ अभेद है । क्षेत्र, काल, शरीर आदि तो सब बाह्य हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है--शरीरादिके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चय दृष्टिसे ठीक नहीं है क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं हैं अतः जो केवलीके गुणोंका स्तवन करता है वही वास्तवमें केवलीका स्तवन करता है ॥ ४४ ॥

अथ व्यवहारनिश्चयस्तवयोः फलविभगं प्रपूरयननुपयोगाय प्रेरयति--

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफां सृजन्त्या

पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या ।

चित्तं प्रसाद्या सुधियः परमार्थनुत्या

सतुत्ये नयनतु लयमुत्तमबोधसिद्धयै ॥ ४५ ॥

सतुत्ये--शुद्धचिद्रूपस्वरुपे ॥ ४५ ॥

अथ एकादशभिः पद्यैर्वन्दनां व्याचिख्यासुरादितस्तावत्लक्षणमाह--

वनदना नतिनुतयाशीर्जयवादादिलक्षणा ।

भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूजयस्य विनयक्रिया ॥ ४६ ॥

जयवादादि । आदिशब्देन नामनिब्रचनगुणानुध्यान-बहुवचनोच्चारणसक्वनदनाद्यर्चनादि ।
प्रणतिर्वन्दनेति कश्चित् । उक्तं च--

'कर्मारण्यहुताशनां परानां परमेष्ठिनाम् ।

प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धा त्रिविधा बुधैः ॥' [अमित., श्रा. ८।३३]

यस्य तस्य--अर्हदादीनां वृशभदीनां चाऽनयतमस्य । विनयक्रिया--विनयकर्म ।

उक्तं च--

'किदियम् चिदिम् पूजाकम् च विणयकम् च । [मूलाचार गा. ७६] ॥ ४६ ॥

आगे व्यवहारस्तव और निश्चयस्तवके फमें भेद बतलाकर उसमें लगनेकी प्रेरणा करते हैं--

तीर्थकरोंके ऊपर कहे गये नामस्तव आदि रूप व्यवहारसतवनसे पुण्यकी परम्परा प्राप्त होती है जिसके फस्वरूप अलौकिक सांसारिक अयुदयका सुख प्राप्त होता है । उसके खरा चित्तको सनतुष्ट करके बुद्धिमानोंको निश्चय रत्नत्रयकी प्रापितके लिए तीर्थकरोंके निश्चयस्तवनके खरा शुद्ध चित्स्वरूपमें चित्तको भी करना चाहिए ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ--ऊपर कहे गये नामस्तव आदि रूप व्यवहारस्तवनसे पुण्यकी परम्परा प्राप्त होती है जिसके फस्वरूप औकिक सांसारिक अभ्युदयका सुख प्राप्त होता है । उसके खरा चित्तको सनतुष्ट करके बुद्धिमानोंको निश्चय रत्नत्रयकी प्रापितके लिए तीर्थकरोंके निश्चयस्तवनके खरा शुद्ध चित्स्वरूपमें चित्तको लीन करना चाहिए ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ--ऊपर जो चतुर्विंशतिस्तवके भेद कहे हैं उनमें एक भव सतव ही परमार्थसे स्तव है क्योंकि उसमें तीर्थकरोंके आत्मिक गुणोंका स्तवन होता है । इस भावस्तवके क्षरा ही शुद्ध चिद्रूपमें चित्तको भ्न किया जा सकता है । और शुद्ध चिद्रूपमें चित्तके लीन होनेसे ही निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है । किन्तु द्रव्यस्तव, खेत्रस्तव, कास्तव आदिसे पुण्यबन्ध होता है । वह पुण्यबन्ध भी तभी होता है जब लौकिक सुखकी कामनाको दोडकर सतवन किया जाता है । लौकिक सुखकी कामनासे स्तवन करनेसे तो पुण्यबन्ध भी नहीं होता ॥ ४५ ॥

आगे ग्यारह शकोंसे वनदनाका स्वरूप कहनेकी इच्छा रखकर प्रथम ही बन्दनाका लक्षण कहते हैं--

अर्हनत, सिध्द आदि या चौबीस तीर्थकरोंमें-से किसी भी पूजनीय आत्माका विशुध्द परिणमोंसे नमस्कार, स्तुति, आशीर्वाद-जयवाद आदिरुप विनयकर्मको वन्दना कहते हैं ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ--मूलाचारमें वन्दनाके नामानतर इस प्रकार कहे हैं किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च । -- ७।७९ । अर्थत् जिस अक्षरसमूहसे या परिणमसे या क्रियासे आठों कर्मोंका कर्तन या देदन होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं अर्थात् पापकेविनाशकेउपायका नाम कृतिकर्म है । जिससे तीर्थकर आदि पुण्यकर्मका संचय होता है उसे चिति-

अथ को विनय इत्याह--

हिताहितापितुपत्यर्थं तदडानां सदाञ्जसा ।

यो माहात्म्योभदवे यत्नः स मतो विनयः सताम् ॥ ४७ ॥

तदडानां--हितप्राप्त्यहितछेदसाधनानाम् । अञ्जा--निर्व्याजम् । माहात्म्योभदवे--शक्ति-विशेषस्योत्पाद उल्लावे वा ॥ ४७ ॥

अथ विनयस्य पञ्चविधत्वमनुवर्ण्यं मोक्षद्वालार्थस्य तस्य निर्जरार्थिनामवश्यकर्तव्यतामुपदिशति--

लोकानुवृत्तिकामार्थीयनिरेयसाश्रयः ।

विनयः पञ्चवावश्यकार्योऽनत्यो निर्जरश्रिभिः ॥ ४८ ॥

लोकानुवृत्तिः--व्यवहारिजनानुकूलाचरणम् । उक्तं च--

'लोकानुवर्तनाहेतुस्तथ कामार्थहेतुकः ।

विनयो भवेहेतुश्च पञ्चमो मोखसाधनः ॥

उत्थानमञ्जिः पूजाऽतिथेरासनढौकनम् ।

देवपूजा चेकानुवृत्तिकृद् विनयो मतः ॥

भाषाच्छन्दानुवृत्तिं च प्रदानं देशकायोः ।

लोकानुवृत्तिरर्थय विनयश्चाञ्जिक्रिया ॥

कर्म अर्थात् पुण्य संचयका कारण कहते हैं । जिससे अर्हत् आदिकी पूजा की जाती है उसे पूजाकर्म कहते हैं । जिससे कर्मोंका संक्रमण, उदय, उदरणा आदि होकर निराकरण किया जाता है उसे विनयकर्म कहते हैं । ये सब वन्दनाके नामानतर हैं । आ. अथतगतने भी कहा है-- कर्मरूपी जंगलकोजलानेकेलिए अग्निकेसमान पाँच परमेष्ठियोंका मन-वचन-कायकी शुध्दि पूर्वक नमस्कार करनेको विद्वान् वन्दना कहते हैं । मन-वचन-कायसे करनेसे उसकेतीन भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

आगे विनयका स्वरुप कहते है--

हितकी प्राप्ति और अहितका छेदन करनेके लिए, जो हितकी प्राप्ति और अहितके देदन करनेके उपाय हैं उन उपायोंका सदा छ-कपटरहित भावसे माहात्म्य बढ़ानेका प्रयत्न करना, उन उपायोंकी शक्तिको बढ़ाना, अस सोधुजन विजय कहते है ॥ ४७ ॥

आगे नियके पाँच भेद बताकर निर्जराके अभाषियोंको पाँचवें भेद मोक्षार्थ विनयको अवश्य पानेका उपदेश देते हैं--

विनयके पाँच भेद कहते हैं--लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, कामहेतुक विनय, अर्थाहेतुक विनय, भहेतुक विनय ओर मोक्षहेतुक विनय । व्यवहारीजनोंके अनुकूल आचरण करना लोकानुवृत्तिहेतुक विनय है । जिससे सब इन्द्रियाँ प्रसन्न हों उसे काम कहते हैं । जिस विनयका आश्रय काम है वह कामहेतुक विनय है । जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थात कहते हैं । अर्थमूलक विनय अर्थहेतुक विनय है । भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय है । ओर जिस विनयका आश्रय मोक्ष है अर्थात मोक्षके लिए जो विनय की जाती है वह मोक्षहेतुक विनय है । जो मुमुक्षु कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हे मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए ॥ ४८ ॥

कामतन्त्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते ङ

विनयः पञ्चमो यसतु तस्येषा स्यात्प्ररुपणा ॥ []

अन्त्यः--मोखविनयः । स च दश्रनादिभेदात् पञ्चधा प्राक् प्रपञ्चितः ॥ ४८ ॥

अथ नामादिनिखेपभेदात् षोढा वन्दनां निर्दिशन्नाह--

नामोच्चारणमर्चाङ्कलयाणावनयनेहसाम् ।

गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोनमिदिवन्दना ॥ ४९ ॥

अर्चा--प्रतिमा । कसयाणावनयनेहसौ--गीलादिकयाणानां भूमिः कालश्च ॥ ४९ ॥

अथावानतरवन्द्यान् वन्दारं च निर्दिशति--

सूरि-प्रवर्त्युपाध्याय-गणि-स्थविर-रात्नान् ।

यथाहं वन्दतेऽमानः संविग्नोऽनलसो यतिः ॥ ५० ॥

विशेषार्थ--मूलाचारमें (७८३-८६) विनयके पाँच भेद बताकर उनका स्वरूप एस प्रकार कहा हैं किसीके आनेपर अपने आसनसे उड़कर दोनों हाँ जोडना, अतिथिको आसन देना, उसका सत्कार करना, मध्याह्नकामें साधुके या अन्य किसी धर्मिकके आनेपर उसका बहुमान करना, अपने विभवके अनुसार देवपूजा करना ये सब लोकानुवृत्ति नामक विनय है । अतिथिके मनके अनुकूल बोलना, उसके अनुकूल आचरण करना, देश-कालके योग्य दान देना यह सब भी लोकानुवृत्ति विनय है, लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिए की जाती है । इसी तरह अर्थके लिए जो विजय की जाती है वह अर्थहेतु विनय है ।

जैसे पैसेके लिए धनीकी खुशामद करना । कामशास्त्रमें जो स्त्रीको अपने अनुकूल करनेके लिए विनय कही है वह कामहेतुक विनय है । किसी भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय है । और पहे जो दश्रन विनय आदि पहुंच प्रकारकी विनय कही है वह मोहेतुक विनय है । मुतुक्षुको वह विनय अवश्य पालना चाहिए उसकेबिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

आगे नाम आदि निक्षेपकेभेदसे छह प्रकारकी वन्दना कहते हैं--

वनदनाके नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं--नामवनदना, स्थापनावन्दना, द्रव्यवन्दना, कावनदना, क्षेत्रवनदना और भाववन्दना । अर्हनत आदिमें-से किसी भी एक पूज्य पुरुषका नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नामवन्दना है । जिनप्रतिमाका स्तवन स्थापनावन्दना है^६ जिन भगवान्के शरीरका स्तवन द्रव्यवनदना है । जिस भूमिमें कोई कल्याणक हुआ हो, उस भूमिका स्तवन क्षेत्रवनदना है^६ जिस कालमें कोई कल्याणक हुआ हो उस काका स्वतन कावन्दना है^६ और भगवान्के गुणोंका स्तवन भाववन्दना है ॥ ४९ ॥

आगे नाम आदि निखेपकेभेदसे छह प्रकारकी वनदना कहते हैं--

वन्दनाके नामादि निखेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं--नामवनदना, स्थापनावन्दना, द्रव्यवन्दना, कावनदना, क्षेत्रवन्दना और भाववन्दना । अर्हनत आदिमें-से किसी भी एक पूज्य पुरुषका नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नामवनदना है । जिनप्रतिमाका स्तवन स्थापनावन्दना है । जिन भगवान्के शरीर सतवन द्रव्यवन्दना है । जिस भूमिमें कोई कल्याणक हुआ हो, उस भूमिका स्तवन क्षेत्रवन्दना है । जिस कामें कोई कल्याणक हुआ हो उस कालक स्तवन कावनदना है^६ और भगवान्के गुणोंका स्तवन भाववन्दना है ॥ ४९ ॥

आगे अन्य वनदनीय पुरुषोंको बताकर वनदना करनेवो साधुका स्वरूप बताते हैं--

संसारसे भयभीत, निरालसी रमण आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी, स्थविर तथा रत्नत्रयके विशेष रूपसे आराधकोंकी मानरहित होकर यथायोग्य वनदना करता है ॥ ५० ॥

विशेषार्थ--जो संघका पोषक, रखण और अनुरह तथा निग्रह करते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं । जो आचार आदिमें प्रवृत्तिकराते हैं उन्हें प्रवर्तक कहते हैं । जिनके पास

अष्टम अध्याय

सूरिः-सारणवारणकारी । प्रवर्ती- प्रवर्तकः । गणी-गणरक्षकी राजसभाविदित्तः । स्थविरः- मर्यादाकारकः । रात्निकः-रत्नत्रयाधिकः । अमानः-अगर्वः ॥ ५० ॥

अथ विधिवन्दनाया विप्रकषवशाद् विषयविभागार्थमाह-

गुरौ दुरे प्रवर्ताद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि ।

संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः ॥ ५१ ॥

गुरी-आचार्य । दुरे-देशाद्यन्तरिते । गुरुः-ज्येष्ठः ॥ ५१ ॥

अथ सागारितरयत्यारवन्दनीयात्रिदिशाति-

श्रावकेणापि पितरी गुरु राजाऽप्यसंयताः ।

कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतैः ॥ ५२ ॥

श्रावकेणापि-यथोत्क्रानुष्ठाननिष्ठेन सागारेणापि कि पुनरनगारेणेत्यपि शब्दार्थः । गुरु-दीक्षागुरुः शिक्षागुरुश्च । कुलिङ्गिनः-तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च । कुदेवाः-रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च । सोऽपि-शास्त्रोपदेशाधिकारी श्रावकोऽपि ॥ ५२ ॥

मुनिजन शास्त्राध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं । गणकेरक्षक साधुको गणी कहते हैं । मर्यादाके कारक साधुओंको स्थविर कहते हैं । इन सभीकी बन्दना साधुओको करना चाहिए ॥ ५० ॥

आगे आचार्य आदिकेदूर रहनेपर बन्दनाकेविषयविभागको बतलाते हैं-

यदि आचार्य देशान्तरमें हों तो मुनियोंको कर्मकाण् में कही गयी विधिकेअनुसार प्रवर्तक आदिकी बन्दना करनी चाहिए । यदि वे भी दूर हों तो मुनियोंको जो अपनेसे दिक्षामें ज्येष्ठ मुनि हों, उनकी बन्दना करना चाहिए ॥ ५१ ॥

देश संयमी श्रावकों और मुनियोंको जिनकी बन्दना नहीं करनी चाहिए उनका निर्देश करते हैं-

मुनिकी तो बात की क्या, यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावकको भी माता-पिता, शिक्षागुरु दीक्षा-गुरु और राजा आदि असंयमी हों तो उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए । तथा तापस आदि और पार्श्वस्थ आदि कुलिगियोंकी व रुद्र आदि और शासन देवता आदि कुदेंवोंकी भी बन्दना नहीं करनी चाहिए । और श्रावक यदि शास्त्रोपदेशका अधिकारी भी हो तो भी उसकी वन्दना मुनिको नहीं करनी चाहिए ॥ ५२ ॥

विशेषार्थ-मूलाचारमें श्रावककेलिए इनकी वन्दनाकेनिषेधका कथन नहीं है । उसमें केवल मुनिके द्वारा जो अबन्दनीय हैं उन्हींका निर्देश है । यथा-टीक्कार आचार्य बसुनन्दीने उसका अर्थ इस प्रकार किया है-मुनि होकर मोहवश असंयमी माता-पिता वा अन्य किसीकी स्तुति नहीं करनी चाहिए । भय या लोभसे राजाकी स्तुति न करें । ग्रह आदि की पीड़ाके भयसे सूर्य, चन्द्र, नाग, यक्ष आदिको न पूजे । शास्त्र आदिकेलोभसे अन्य धर्मियोंकी स्तुति न करे । आहार आदिकेनिमित्त श्रावककी स्तुति न करे । या श्रावक शास्त्र आदिका पण्डित हो तो भी उसकी वन्दना न करे । अपना गुरु भी यदि भ्रष्ट हो गया हो तो

-भादिवि-भ. कु. च. ।

देशाधिका-भ. कु. च. ।

णो वंदेज्ज अविरद्रं मादा पिदु गुरु णरिदं अण्णातित्थं व्व ।

देशविरद देवं वा विरदो पासत्थ पणगं च ।। - मुलाचार, ७/९५ ।

अथ संयतेऽपि वन्दनाविधिनियमार्थमाह-

वन्द्यो यतोऽयनुज्ञाप्य काले साध्वासिती न तु ।

व्याक्षेपाहारनीहारप्रसादविमुखत्वयुक ॥ ५३ ॥

अनुज्ञाप्य-भगवन् वन्देऽहमिति विज्ञापनया वन्दस्वेत्पनुज्ञां कारयित्वा इत्यर्थः । साध्वासितः-सम्यगुपविष्टः । उक्तं च-

आसने हयासनस्थ च शान्तचित्तमुपरस्थितिम्

नेत्यादि । उक्तं च-

व्याक्षिप्तं च पराचीनं मा वन्दिष्ठाः प्रमादिनम् ।

कुवैन्तं सन्तमाहारं नीहारं चापि संयतम् ॥ () ॥ ५३ ॥

अथ काल इति व्याचष्टे-

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः ।

मध्याह्नैः स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रतिक्रमैः ॥ ५४ ॥

विहितक्रियैः-कृतप्राभातिकानुष्ठानैः । स्तुतदेवैश्च, चशाब्दोऽत्र नैमित्तिकक्रियानन्तरं विधिवन्दना समुच्ययार्थः ॥ ५४ ॥

उसकी वन्दना न करे । अन्य भी कोई अपना उपकारी यदि असंयमी हो तो उसकी वन्दना न करे । तथा पाश्वस्थ आदि पाँच भ्रष्ट मुनियोंकि वन्दना न करे । पं. आशाधरजीने मुलाचारके इस कथनको श्रावक पर लगाया है क्योंकि उन्होंने शायद सोचा होगा मुनि तो ऐसा करेगा नहीं । श्रावक ही कर सकता है ॥ ५२ ॥

आगे संयमियोंकी भी वन्दनाकी विधिकेनियम बताते हैं-

संयमी साधुको संयमी साधुकी बन्दना भी वन्दनाके कालमें जब वन्दनीय साधु अच्छी तरह से बैठे हुए हों, उनकी अनुज्ञा लेकर , करना चाहिए । यदि वन्दनीय साधु किसी व्याकुलतामें हों, या भोजन करते हों, या मल-मुत्र त्याग करते हों, या असावधान हों या अपनी ओर उन्मुख न हों तो वन्दना नहीं करनी चाहिए ॥ ५३ ॥

विशेषार्थ-वन्दना उचित समय पर ही करनी चाहिए । साथ ही जिन साधुकी वन्दना करनी हो उनको सूचित करके की भगवत् ! मैं वन्दना करता हूँ, उनकी अनुज्ञा मिलने पर वन्दना करनी चाहिए । कहा है- जब वन्दनीय साधु एकान्त प्रदेशमें पर्याक आदि आसनसे बैठे हों, उनको चित्त स्वस्थ हो तब वन्दना करनी चाहिए । तथा वन्दना करनेसे पहले उनसे निवेदन करना चाहिए कि मैं आपकी वन्दना करना चाहता हूँ । यदि वे कार्य व्यग्र हों, उनका ध्यान उस ओर न हो तो ऐसी अवस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए । कहा है-जब उसका चित्त ध्यान आदिमें लगा हो, या वह उधरसे मुँह मोड़े हुए हों, प्रसादसे ग्रस्त हो, आहार करते हों, या मलमुत्र त्यागते हों तो ऐसी आस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए ॥ ५३ ॥

आगे वन्दनाका काल कहते हैं-

प्रातःकालमें प्रातःकालीन अनुष्ठान करनेके पश्चात् क्रियाकाण्डमें कहे हुए विधानके अनुसार आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए । मध्याह्नमें देव वन्दनाके पश्चात् वन्दना करनी चाहिए । और

सन्ध्याके समय प्रतिक्रमण करके वन्दना करनी चाहिए । च शब्दसे प्रत्येक नैमित्तिक क्रियाके अनन्तर वन्दना करनी चाहिए ॥ ५४ ॥

अथाचार्यशिष्ययोः शेषयतीनां च वन्दनाप्रतिवन्दनयोविभागनिर्णयार्थमाह-

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने ।

गुरुशिष्यस्य साधुना तथा मार्गाविदर्शने ॥ ५५ ॥

गुरुशिष्यस्य-गुरुश्च शिष्यश्चेति समाहारः । मार्गादि-आदिशब्दान्मलोत्सगीतरकालं कायोत्सगार्कन्तदर्शनेपि ॥ ५५ ॥

अथ सामायिकादित्रयस्य व्यवहारानुसारेण प्रयागविधिं दर्शयति-

सामायिकंणमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम् ।

थोसामीत्यादी जयति भगवानित्यादिवन्दनां युज्यात् ॥ ५६ ॥

जयति भगवानित्यादि । अत्रैक आदिशब्दी लुप्तनिर्दिष्टीह द्रष्टव्यः । तेन अहैत्वद्वैदिवन्दना गृह्यते ॥ ५६ ॥

अथ प्रतिक्रमणस्य लक्षणविकल्पनिर्णयार्थमाह-

आगे आचार्य और शिष्यमें तथा शेष संयमियोंमें वन्दना और प्रतिवन्दनाका निर्णय करते हैं-

सभी नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्मके प्रारम्भमें शिष्यको आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए और उसके उत्तरमें आचार्यको शिष्यकी वन्दना करनी चाहिए । इसके सिवाय मार्गमें अन्य यतियोंको देखनेपर परस्परमें वन्दना प्रतिवन्दना करनी चाहिए । आदि शब्दसे मलत्यगके पश्चात् तथा कायोत्सर्गके पश्चात् यतियोंको देखनेपर परस्पर में वन्दना-प्रति-वन्दना करनी चाहिए ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ-मूलाचार (७/१०२) में कहा है कि आलोचना करते समय छह आवश्यक करते समय, प्रश्नकरते समय, पूजा करते समय, स्वाध्याय करते समय और क्रोध आदि अपराध होनेपर आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए ॥ ५५ ॥

सामाजिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दनाका वर्णन करनेके पश्चात् व्यवहारके अनुसार इन तीनोंकी प्रयोग विधि बतलाते हैं-

संयमी साधुओंको और देशसंयमी श्रावकोंको णमो अरइंताणं इत्यादी सामाजिक इण्डकपूर्वक प्रथम सामाजिक करना चाहिए । उसके पश्चात् थोस्सामि इत्यादी स्तवदण्डक पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव करना चाहिए। उसके पश्चात् जचति भगवान् इत्यादी चैत्यभक्तिपूर्वक वन्दना करनी चाहिए ॥ ५६ ॥

विशेषार्थ-देशभक्ति नामक शास्त्रके प्रारम्भमें सामाजिक दण्डक दिया है । इसमें ण्मोकार मन्त्र चत्तारि मंगळ आदि दण्डक देकर कृतिकर्म करनेकी प्रतिज्ञा आदि है । इस सबको भाव सहीत पढ़कर सामाजिक करना चाहिए । इसके पश्चात् थोस्साचि ह जिणवरे इत्यादी स्तुति तीर्थकरोंकी है इस दइ

ण्डकको पढ़कर चतुर्विंशतिस्तत करना चाहिए । चैत्यभक्तिके प्रारम्भमें जयति भगवान् इत्यादी चैत्यभक्ति है इसे पढ़कर वन्दना करनी चाहिए । यह इनकी विधि है । आदि शब्द से अर्हन्त, सिद्ध आदिकी भी वन्दना की जाती है ॥ ५६ ॥

आगे चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमणके भेद और लक्षण कहते हैं:-

१. योर्विषयवि-भ. कु. च. L

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः ।

प्रतिक्रमस्त्रिघा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः ॥ ५७ ॥

अहरित्यादि । अहः संवत्सरः, ईर्यापथः । उत्तमार्थः निःशेषदोषालोचनपूर्वकाडविसर्गसमर्थो यावज्जीव चतुर्विंशत्यारपरित्यागः । अहरदिषु सप्तसु भवत्यहराहयो वा सप्त भुवो विषया यस्येत्याडिकाभिदासत् सावि इत्यर्थः । उक्तं च-

ऐर्यापथिकरात्र्युत्थं प्रतिक्रमणमाडिकम् ।

पाक्षिकं च चतुर्मासवपोत्यं चोत्तमार्थिकम् ॥ ()

तथालोचनापूर्वकत्वात्प्रतिक्रमणायाः सापि तद्वत् सप्तघा स्यादित्यापि बोद्धव्यम् । उक्तं च-

आलोचनं दिवसियं राड्य इरियावहं च बोद्धव्यं ॥

पक्खय-चाउम्मासिय संवच्छरमृतमटुं च ॥ (मूलाचार, गा. ६१९)

त्रिघा-मनोवाक्कार्यः कुतकारितानुमतैश्च । अथवा निन्दनगर्हणालोचनैर्मनीवाक्कार्यैर्वा । ध्वंसः-
आत्मनोऽप्रसारणमिति ग्राहयम् ।

नामस्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भावके आलम्बनसे उत्पन्न हुए अपराधके अथवा संचित हुए पापके मन-वचन-काय, अथवा कृत क्ररित , अनुमोदनाके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं । दिन, रात, पक्ष , चतुर्मास वर्ष ईर्यापथ और उत्तमार्थके भेदसे प्रतिक्रमणके सात भेद हैं ॥ ५७ ॥

विशेषार्थ-प्रतिक्रमण कहते हैं, लगे हुए दोषों की विशुद्धिको । दोष लगनेके आलम्बन हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । अतः उनके शोधनको नामप्रतिक्रमण स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण कहते हैं । कहा हैं-प्रसादसे लगे हुए दोषोंसे अपनेको दूर करके गुणोंकी ओर प्रवृत्ति करना प्रतिक्रमण है । अथवा किये हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं । यह दोषविशुद्धि निन्दा, आलोचना और गर्हणासे की जाती है । अर्थात् अपराधी व्यक्ति अपने किये गये दोषोंके लिए अपनी निन्दा और गर्हा करता है, गुरुसे अपने दोषको कहता है । इस तरह अन्तरंगसे पश्चात्ताप करनेसे किये हुए दोषोंकी विशुद्धि होती हैं । इसीसे सामायिक पाठमें कहा है- जैसे वैद्य मन्त्रके गुणोसे समस्त विषको नष्ट कर देता है वैसे ही मैं विनिन्दा, आलोचना और गर्हाके द्वारा मन-वचन-काय और कषायके द्वारा किये गये पापको, जो सांसारिक दुःखोका कारण है, नष्ट करता हूँ । यह प्रतिक्रमण दिनमें, रातमें, पन्द्रह दिनमें चार-चार मासमें तथा वर्ष आदिमें किया जाता है इससे उसके सात प्रकार हैं । दिनके समय नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे होनेवाले कृत

कारित और अनुमत दोषका मन-वचन कायसे शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रिके समयमें होनेवाले छह प्रकारके कृत-कारित और अनुमत दोषोंका मन-वचन-कायसे शोधन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। छह कायके जीवोंके छह विषयमें लगे हुए दोषोंका विशोधन करना ऐर्सापथिक प्रतिक्रमण है। पन्द्रह दिन-रातोंमें छह नामादिके आश्रयसे हुए कृत, कारित अनुमत दोषका मन-वचन-कायसे शोधन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार चार-चार मासमें हुए दोषोंका विशोधन चातुर्मासिक और एक वर्षमें हुए दोषोंका विशोधन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। समस्त दोषोंकी आलोचना करके जीवनपर्यन्तके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग

विनिन्दनालोचनगर्हणे रहं मनोवचः कायकषायनिर्मितम् ।

निहन्मि पापं भवहुः खकारणे भिष्णविषं मन्त्रगयुर्णरिवाखिलस् ॥

(द्वात्रिंशतिका)

नामेत्यादि-नामस्थापनादिषट्काथितस्यापरास्य पापस्य वेत्यर्थः । तदेतत् प्रतिक्रमणं लक्षणम् ।

उक्तं च-

प्रमादप्राप्तदुःखेभ्यः प्रत्यावृत्य गुणावृत्तिः ।

स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥ () ॥ ५७ ॥

अर्थवमाचारशास्त्रमतेन

सप्तविध

प्रतिक्रमणमभिधाय

शासत्रान्तरोक्तद्भेदान्तराणामत्रैदान्तर्भावप्रकाश-नार्थमाह-

सोऽन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरे ।

निषिद्धिकेर्यालुडृशदोषाथरच लघुत्वतः ॥ ५८ ॥

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसमें सब दोषोंके प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी प्रतिक्रमण साधुके लिए यथासमय करणीय होते हैं।

श्वेताम्बरीत स्थानांग सूत्र (स्था. ६ला) में छह प्रतिक्रमण कहे हैं - उच्चार, प्रश्रवण, इत्वर, यावत्कथिक, येत्किचन मिथ्या और स्वापनान्तिक। मलत्याग करनेके बाद जो प्रतिक्रमण क्रिया जाता है वह उच्चार प्रतिक्रमण है। सुत्रत्याग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रश्रवण प्रतिक्रमण है। अल्पकालीन प्रतिक्रमणको इत्वर कहते हैं इसमें दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण आ जाते हैं। यावज्जीवनके लिए भाजनका त्याग यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। नाक, कफ आदि त्यागनेमें जो दोष लगता है वह मिथ्या हो इस प्रकारके प्रतिक्रमणके यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण कहते हैं। सोते समय हुए दोषोंके लिए या स्वप्नमे किये हिंसा आदि दोषोंको दूर करनेके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको स्वापनान्तिक कहते हैं। आवश्यक सुत्रमें दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक चातुर्मासिक वार्षिक और उत्तमार्थ भेद कहे हैं। उसकी टीकामे यह प्रश्न किया गया है कि जब प्रतिदिन किये जानेवाले प्रतिक्रमणसे ही दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है तब पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणोंकी क्या आवश्यकता है। इसके

उत्तरमें घरका दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे घरकी सफाई प्रतिदिन की जाती है फिर भी पक्ष आदि बीतनेपर विशेष रूपसे सफाई की जाती है वैसे ही प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए ।। ५७।

इस प्रकार आचारशास्त्रके मतसे सात प्रकारके प्रतिक्रमणको कहकर अन्य शास्त्रोंमें कहे गये प्रतिक्रमणके भेदोंका इन्होंने अन्तर्भाव दिखलाते हैं-

सर्वातिचार सम्बन्धी और दीक्षा सम्बन्धी प्रतिक्रमण अन्तके उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं क्योंकि उन प्रतिक्रमणोंमें भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ बहुत है । तथा निषिद्धिका गमन, केशलॉच गोचरी और दुःस्वप्न आदि अतीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणोंमें होता है, क्योंकि इनमें भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ अल्प होते हैं ॥ ५८ ॥

पडिकमणं देवसिअ रीइजं च इत्तरिअमावकहियं च ।

पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्टे अ ॥ - आवश्यक ४/२१ ।

स इत्यादी । सः-प्रतिक्रमः । अन्त्ये-उत्तमार्थे । गुरुत्वात्- भक्त्युच्छ्वासदण्डकपाठबहुत्वात् । सर्वातिचाराः-दीक्षाग्रहणात् प्रभृति संन्यासग्रहणं यावत् कृता दोषाः । दीक्षा- व्रतादानम् । सर्वातिचार-प्रतिक्रमणा व्रतारोपणप्रतिक्रमणा चोत्तमार्थप्रतिक्रमणायां गुरुत्वादन्तर्भवत इत्यर्थः । एतेन बृहत्प्रतिक्रमणाः सप्त स्युरित्युक्तं स्यात् । ताश्च यथा-व्रतारीपणी पाक्षिकी कार्तिकान्तचातुर्मासी फाल्गुनान्तचातुर्मासी आषाढान्सावत्सरी सर्वातिचारी उत्तमार्थी चेति । आतिचारी त्रितिघाहारव्युत्सर्जनी तां वीतयो (?) रेवान्तर्भवतः। तथा पश्रसंवत्सरान्ते विधेया योगान्ती प्रतिक्रमणा सांवत्सरप्रतिक्रमणायामन्तुर्भवति ।

उक्तं च-

व्रतादएिने च पक्षान्ते कार्तिकेफाल्गूने शुचौ ।

स्यात् प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासने मृते ॥ ()

अपर इत्यादी । अपरे-अन्यत्र आहिकादी प्रतिक्रमणे । निषिद्धिकेर्था-निषेधिका (गिषिद्धिका)-गमनम् । लुक्षो-दीक्षाग्रणोत्तरकालं द्वित्रिचतुर्मासवायं हस्तेन केशोत्पाटनम् । आशः- भोजनम् । दोषः- दुस्वप्नाद्यतोचारः । पिषिद्धिकेर्था च लुश्रष्वाशश्च दोषश्च । ते चत्वारोऽर्या निमित्ताति यस्य स तथोक्तः । इदमत्र तात्पर्यं निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमण लुप्रतिक्रमणा चेत्यर्थः ॥ ५८ ॥

विशेषार्थ-दीक्षा लेनेके समयसे लेकर संन्यास ग्रहण करनेके समय तक जो दोष होते हैं उन सबकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते हैं । व्रत ग्रहण करनेमें लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको व्रतारोपण प्रतिक्रमण कहते हैं । ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु है । अतः प्रतिक्रमणके लिए जो भक्ति आदि करनी होती है वह इनमें अधिक करनी होती है । अतः इन दोनोंका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें होता है । अंतः बृहत् प्रतिक्रमण सात होते हैं, वह निष्कझिल निकलता है । वे इस प्रकार है - व्रतारोपण, प्राक्षिक , कार्तिकान्त चातुर्मासिक, फाल्गुनान्त

चातुर्मासिक, आषाढान्त वार्षिक सर्वातीचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ । अतीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव सर्वातीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें होता है । और जिसमें तीन प्रकारके आहारका त्याग ककिया जाता है उसका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें होता है । तथा पाँच वर्षके अन्तमें किये जानेवाले युगान्त प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव वार्षिक प्रतिक्रमणमें होता है । इस तरह वृहत् प्रतिक्रमण सात हैं । कहा है- व्रत ग्रहण करनेपर, पक्षके अन्तमें, कार्तिक मास, फाल्गुन मास और आषाढ मासके अन्तमें, दोष लगनेपर तथा समाधिपूर्वक मरणमें गुरु प्रतिक्रमण होता है ॥ ५८ ॥

निषिद्धिकामें गमन करनेको निषिद्धिकागमन कहते हैं । दीक्षा ग्रहण करनेके बाद दो मास, तीन मास, या चार मास, बीतनेपर जो हाथसे केश उखाड़े जाते हैं, उसे लोंच कहते हैं । भोजनको अशन या गोचर कहते हैं । दुःस्वप्न आदि अतीचारको दोष कहते हैं । इन चारोंको लेकर भी प्रतिक्रमण किया जाता है । अतः उन्हें निषिद्धिकर्झिगमन प्रतिक्रमण, लुंच प्रतिक्रमण, गोचर प्रतिक्रमण और अतीचार प्रतिक्रमण कहते हैं । ये चारों प्रतिक्रमण लघु होनेसे इनका अन्तर्भाव ईर्यापथ आदि प्रतिक्रमणोंमें होता है । उनमेंसे प्रथमका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक प्रतिक्रमणमें और अन्तिमका अन्तर्भावक रात्रि प्रतिक्रमणमें तथा

-रो सार्वतीचार्या त्रि-भ. कु. च. ।

नी चोत्तमार्थ्या प्रतिक्रमणायामन्त-म.कु.च. L

अथ प्रतिक्रमन्क्रियायाः कर्तुं कर्मकरणाधिकरणकारकाणि लक्षपति-

स्यान्नामादिप्रतिक्रमन्तिः परिणामनिवर्तनम् ।

दुर्नामस्थापनाभ्यां च साववद्यद्रव्यसेवनात् ॥ ५९ ॥

क्षेत्रकालाधिताद्वागाद्याश्रिताच्चातिचारतः ।

परिणामनिवृत्तिः स्यात् क्षेत्रावीनां प्रतिक्रमः ॥ ६० ॥

स्यात् प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्यं तु दुष्कृतम् ।

येन यत्र च तच्छेदस्तरप्रतिक्रमण मतम् ॥ ६१ ॥

प्रतिक्रमकः-प्रतिक्रमति प्रतिमच्छति द्रव्यादिविषयादतिचारान्निवर्तते दोषहरणे वा प्रवर्तत इति प्रतिक्रमकः । पश्रमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतपर इत्यर्थः । प्रतिकृत्यं-परित्याज्यम् । दुष्कृतं-मिथ्यात्वाद्यतिचाररुपं पापं तन्निमित्तद्रव्यादिकं वा । येन-मिथ्यादुष्कृताभिधानाभिव्यक्तपरिामेनाक्षर-दम्बकेन वा । यत्र-यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकव्र तरवरुपे व्रतशुद्धिपरिणते वा जीवे । उक्त च-

शेष दो का अन्तर्भाव दैवसिक प्रतिक्रमणमें होता है । इस तरह लघु प्रतिक्रमण भी सात होते हैं । कहा है-केशलोच, रात्रि, दिन, भोजन, निषिद्धिकयागमन, मार्ग और दोषको लेकर सात लघु प्रतिक्रमण होते हैं । प्रतिक्रमणमे दोषोंके अनुसार भक्तिपाठ, कायोत्सर्ग आदि किया जाता है । जिन दोषोंकी बिशुद्धिके लिए

ये अधिक किये जाते हैं उनकेप्रतिक्रमणको गुरु कहते हैं और जिनकी विशुद्धीकेलिए केक्रम किये जाते हैं उन्हें लघु कहते हैं ॥ ५८ ॥

आगे दो श्लोकोंकेद्वारा नाम आदि छह प्रतिक्रमणोंको कहते है-

नाम प्रतिक्रमण स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण, क्षेत्र प्रतिक्रमण, काल प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण ये छह प्रतिक्रमण हैं । जो नाम पापकेकारण हैं उनकेउच्चारण आदिवसे परिणामोंकी निवृत्तिको नाम प्रतिक्रमण कहते हैं । सरागी देवोंकी स्थापनामुलक परिणामोंसे निवृत्तिको स्थापना प्रतिक्रमण कहते हैं । जो भोज्य आदि वस्तु हिंसा आदि पापसे युक्त है उसके सेवनसे परिणामोंके निवृत्तिको द्रव्य प्रतिक्रमण कहते है । क्षेत्रसम्बन्धी दोषोंसे परिणामोंकी निवृत्तिको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं । काल सम्बन्धी दोषोंसे परिणामोंकी निवृत्तिको काल प्रतिक्रमण कहते हैं । और राग-द्वेष-मोह सम्बन्धी परिणामोंकी निवृत्तिको भाव प्रतिक्रमण कहते है ॥ ५९-६० ॥

आगे प्रतिक्रमणरूप क्रियाकेकर्ता, कर्म करण और अधिकरण कारक बताते हैं-

पाँच महाव्रत आदिकेश्रवण और धारणमें लगनेवाले दोषोंको दुर करनमें तत्पर साधु प्रतिक्रमणका कर्ता होता है । मिथ्यात्व आदि दोषरूप पाप अथवा उसमें निमित्त द्रव्यादि, जो कि छोड ुने योग्य होते है वे प्रतिक्रमणरूप क्रियाके कर्म है । मेरे समस्त पाप मिथ्या होवे इस प्रकारके शब्दोंसे प्रकट होनेवाले जिस परिणामसे अथवा प्रतिक्रमण पाठकेजिन अक्षरसमुहसे पापोंका छेद हाता है करण हैं । और जिस व्रतशुद्धि पूर्वकरुपमें अथवा व्रत शुद्धिरुप परिणत जीवमें दोषोंका छेद होता है वे प्रतिक्रमणकेअधिकरण हैं ॥ ६१ ॥

-कत्वरुपे भ. क. च. ।

लुच्ये रात्रो दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि ।

स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी ॥ ()

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।

पडिगच्छदि जेण जहिं तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥

पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चिताचित्तमिस्सयं तिविहं ।

खेतं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालमिह ॥

मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव असंजमे पडिक्कमणं ।

कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्येसु ॥ (मूलाचार, गा. ६१५-६१७) ॥ ६१ ॥

अथ प्रतिक्रमणप्रयामाह-

निन्दा-गर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा ।

पठेद्वा श्रुणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान्नियमानप् समान् ॥ ६२ ॥

निन्देत्यादि । कृतदोषस्यात्मसाक्षिक हा दृष्ट कृतमिति चेतसि भावनं निन्दा । तदेव गुरुसाक्षिकं गर्हा । गुणदोषनिवेदनमालोचनम् । तेध्वभियुक्तीऽम्युत्थित उद्यत इति यावत् । तैर्वा अभि समन्ताद् युक्तः परिणतः । भावप्रतिक्रमणसमाहित इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-

आलोचनादिदणगरहणहिं अब्भुट्टिओ अकरणाए ।

तं भावपडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदी भणिदं ॥ (मूलाचार, गा. ६२३)

विशेषार्थ- जो प्रतिक्रमण करता है वह कर्ता होता है । वह जिन दोषोंका प्रतिक्रमण करता है वे दोष उसके कर्म होते हैं । जिन परिणामोंसे अथवा पाठादिसे दोषोंकी शुद्धि की जाती है वे परिणामादि उसके कारण होते हैं और प्रतिक्रमणका आधार व्रतादि या व्रतधारी जीव अधिकरण होता है । इस तरह प्रतिक्रमणरूप क्रियाके ये कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण होते हैं, इनके बिना क्रिया नहीं हो सकती । मूलाचारमें कहा है-आहार, पुस्तक, औषध, उपकरण आदि द्रव्यके विषयमें, शयन, आसन, स्थान गमन आदिके विषयभूत क्षेत्रके विषयमें, घडी, मुहुर्त, दिन, रात पक्ष, मास वर्ष सन्ध्या, पर्व आदि कालके विषयमें, राग द्वेष आदि रूप भावके विषयमें, जगो दोषोंका और उनके द्वारा आगत कर्माको नष्ट करनेमें तत्पर जीव प्रतिक्रमणका कर्ता होता है । जिस परिणामके द्वारा व्रत-विषयक अतीचारका शोधन करके पूर्ववत्की शुद्धिकी जाती है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त, द्रव्य, दिन, मुहुर्त, वर्षा आदि काल, घर नगर आदि क्षेत्र प्रतिक्रमणके योग्य है । अर्थात् जिस क्षेत्र काल और द्रव्यसे पापका आगमन होता है वह द्रव्य क्षेत्र काल त्यागने योग्य है । अथवा जिस कालमें प्रतिक्रमण कहा है उसी कालमें करना चाहिए । अर्थात् अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, त्यागने योग्य है और उनके द्वारा लगे दोषोंका शोधन करना चाहिए । मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अशुभयोग सम्बन्धी दोषोंका शोधन करना भाव प्रतिक्रमण है ॥ ६१ ॥

आगे प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं-

निन्दा, गर्हा और आलोचनामें तत्पर साधुको सावधान चित्तसे सब कर्मोंका घात करनेवाले सब प्रतिक्रमण पाठोंको दोषोंकी शुद्धिकेलिए पढ़ना चाहिए या आचार्य आदिसे सूनना चाहिए ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ-अपनेसे जो दोष हुआ हो उसके लिए स्वयं ही अपने मनमें ऐसी भावना होना कि खेद है मुझसे ऐसा दोष हो गया इसे निन्दा कहते हैं । यदि ऐसी भावना गुरु के सामने की जाये तो इसे गर्हा कहते हैं और गुरुसे दोष निवेदन करने को आलोचना कहते

युक्तेन समाहितेन तदर्थनिष्ठेत्यर्थः । पठेत्-उच्चरेत् । शुद्धयै-विपुलकर्मनिर्जरार्थार्थम् ।

उक्तं च-

भावयक्तोऽर्थतत्रिष्टः सदा सूत्रं तु यः पठेत् ।

स महानिर्जरार्थाय कर्मणी वर्तते यतिः ॥ ()

नियमान्-प्रतिक्रमणदण्डकान् । समान्-सविन् । व्यवहाराविरोधेन पठेदिति संबन्ध । आवृत्या समान् कर्मधनानित्यापि योज्यम् सर्वेषां कर्मणां हन्तृत्वोपदेशार्थम् । इदमत्र तात्पर्यं, यस्मादैदंयुगीना दुष्माकालानुभावाद् वक्रजडीभूताः स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति बलचित्तत्वाच्चासक्त्प्रायशोऽपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वाविचारवषुद्वयर्थ

सर्वप्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः । तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्येत । ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः । तथा चोक्तुम्-

सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः ।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनास् ॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा ।
तदैव स्यात् प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनास् ॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां न वा ।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वे प्रतिक्रमन्ति निश्चतम् ॥
मध्यमा एकचिन्ता यदमूढदृढबुद्धयः ।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद् गर्हमाणाः सृजन्ति तम् ॥
पौरस्त्यश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः ।
ततः सर्वप्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम् ॥ () ॥ ६२ ॥

हैं । इनसे युक्त साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होता है । मूलाचारमें कहा है-आलोचना, निन्दा और गर्हामें तत्पर होकर पुनः दोष न लगानेको भावप्रतिक्रमण कहते हैं । उसके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमण है । इस भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण सम्बन्धी पाठोंको मन लगाकर पढ़ना या सुनना चाहिए । इससे कर्मोंको निर्जरा होती है । कहा है-जो साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर और उसकेअर्थमें मन लगाकर सदा प्रतिक्रमण सूत्रको पढ़ता है वह कर्मोंकी महान् निर्जरा करता है ।

तात्पर्य यह है कि इस युगके साधु पंचम कालके प्रभावसे वक्रजड़ होते हैं अर्थात् अज्ञानी होनेके यसाथ कुटिल भी होते हैं । इससे वे अपने ही द्वारा त्रतादिमें लगाये दोषोंको भूल जाते हैं । उन्हें उनका स्मरण नहीं रहता । तथा चंचल चित्त होनेसे प्रायः बार-बार दोष लगाते हैं । इसलिए गमनादिमें दोष लगे या न लगे, उन्हें समस्त दोषोंकी विशुद्धिके लिए सभी प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ना चाहिए । उनमें-से जिस किसीमें भी चित्त स्थिर होता है उससे सभी दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है क्योंकि वे सभी प्रतिक्रमणदण्डक कर्मोंका घात करनेमें समर्थ हैं किन्तु उनमें चित्त स्थिर होना चाहिए । मूलाचारमें कहा भी है-प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थकर महावीरका धर्म प्रतिक्रमण सहित था । अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए । किन्तु अजितनाथसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त मध्यम तीर्थकरोंके धर्ममें अपराध होनेपर ही प्रतिक्रमण किया जाता था । जिस व्रतमें अपनेको या दूसरोंको दोष लगता था उसीका प्रतिक्रमण मध्यम तीर्थकरोंके साधु करते थे ।

अथ प्रतिक्रमणादेरधस्तनभूमिकायामनुष्ठाने मुमुक्षोरुषकारः स्यादननुष्ठाने चापकारो भवेत् ।
उपरिम भूमिकायामनुष्ठाने अपकार एव भवेदित्युपदेशार्थमाह-

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च ।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोऽयथापि विषकुम्भ ॥ ६३ ॥

प्रतिक्रमणं-दण्डकोच्चारणलक्षणं द्रव्यरूपम् । प्रतिसरण- गुणेषु प्रवृत्तिलक्षणा सारणा । परिहरणं-
दोषेभ्यो व्यावृत्तिलक्षणा हारणा । धारणा चित्तस्थिरीकरणम् । निवृत्तिः-अन्यत्र गतचित्तस्य पुनर्व्यावर्तनम् ।
शुद्धिः प्रायश्चित्तादिनाऽऽमनः शोधनम् । अमृतकुम्भः-प्रतिक्रमणाद्यष्टमधस्तनुमिकायाममृतकुम्भ इति
चित्तप्रसादशदविधानात् । अप्रतिक्रमणादिप्रकरणे यतेर्वृत्तिविषकुम्भः पापानुबन्ध-निबन्धत्वेन
मोहसंतापदिविधानात् । अपिशब्दादुपरितनभूमिकायां प्रतिक्रमणादिरपि विषकुम्भः पुण्यास्त्रवणकारणत्वेन
मन्दमतिमोहादिविधानात् । यदाहुः-

पुण्येण होई विहवो विहवेण मओ मएण मइमोही ।

मई मोहेण वि पापं तं पुण्यं अम्ह मा होउ ।। (परमात्मप्र. २/६०)

किं च, प्रतिक्रमणमित्यत्र ककारेफसंयोगपरत्वेन प्रागिकारस्य गुरुत्वादार्याच्छन्दोभङ्गो न शङ्क्यः
शिथिलोच्चारणस्य विवक्षितत्वात् यथेह-

वित्तैर्येषां प्रतिपदमियं पूरिता भूतघात्री,

निर्जित्यैतद् भूवनवल्यं ये विभृत्वं प्रपन्नाः ।

तेऽप्येतस्मिन् गुरु भवहृदे बुद्बुदस्तम्बलीलां

धृत्वा धृत्वा सपदि बिलयं भूभुजः संप्रयाताः ॥ ()

यथा वा जिनवरप्रतिमानं भावतोऽहं नमामि इत्यादी ॥ ६३ ॥

जबकि आदि और अन्तिम तीर्थकरके साधु एक दोष लगनेपर सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ते हैं । ईर्या,
गोचर, स्वप्न आदि सबमें अतीचार लगे या न लगे, भगवान् ऋषभवाथ और भगवान् महावीरके शिष्य
नियमसे सभी प्रतिक्रमणदण्डकोंको पढ़ते हैं । इसका कारण यह है कि मध्यम तीर्थकरोंके शिष्य भूलते
नहीं थे । स्थिरचित्त थे, प्रत्यंक्रिया समझ-बूझकर करते थे । अतः वे जो दोष करते थे, उस दोषी गर्हा
करनेसे शुद्ध हो जाते थे । किन्तु प्रथम और अन्तिम् तीर्थकरके शिष्य चंचल चित्त थे, बार-बार समझानेपर
भी नहीं समझते थे । इसलिए उन्हें सभी प्रतिक्रमणदण्डक करने होते हैं जिससे एकमें मन स्थिर न हो
तो दूसरे या तीसरेंमें हो सके ॥ ६२ ॥

आगे कहते हैं कि नीचेकी भूमिकामें प्रतिक्रमण आदि करनेपर मुमुक्षुका उपकार होता है, न करने पर
अपकार होता है । किन्तु उपरकी भूमिकामें तो प्रतिक्रमण आदि करनेपर अपकार ही होता है-
प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा शुद्धि ये आठ नीचेकी भूमिकामें अमृतके
घटके समान हैं और नहीं करनेपर विषके घडेके समान हैं । किन्तु ऊपरकी भूमिकामें प्रतिक्रमण आदि भी
विषकुम्भके समान है ॥ ६३ ॥

विशेषार्थ-दण्डकोंका पाठ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण है । गुणोंमे गुणोंमें प्रवृत्तिको प्रतिसरण या सारण कहते हैं ।
दोषोंसे निवृत्तिको परिहरण या हारण कहते हैं । चित्तके स्थिर करनेको धारणा कहते हैं । चित्त अन्यत्र
जाने पर उसे वहाँसे लौटाने को निवृत्ति कहते हैं । निन्दा

गुरुवचहयदे भ. कु. च. ।

अथ मुमुक्षुः सकलकर्मसंन्यासभावनाप्रमुखं सकलकर्मफलसंन्यासभावनामभिनयति-

प्रतिक्रमणमालोचं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम् ।

भुतसङ्गाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत् सुधीः ॥ ६४ ॥

प्रतिक्रमणं-भुतकर्मणां पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मविपाकभवेभ्यां भावेभ्यः स्वात्मानं विनिवर्त्यात्मना
तत्कारणभूतप्राक्तनकर्मनिवर्तनम् । आलोचनं-सत्कर्मणां
वर्तमानशुभाशुभकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनशेषलम्बनम् । प्रत्याख्यानं-भाविकर्मणां
शुभाशुभस्वपरिणामनिमित्तोत्तरकर्मनरोधनं कृत्वा । तथाहि-यदहमकार्षं यद्दचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं
समन्वज्जासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं इत्येवं समस्तव्यस्तैःकरणै- (-
रेकान्नपत्राशता-) क्रियापदैश्चावर्तनीयम् । यथाह-

और गर्हाका स्वरूप पहले कहा है । प्रायश्चित्त आदिके द्वारा आत्माके शोधनको शुद्धि कहते हैं । नीचेके गुणस्थानोंमें ये आठ अमृतकुम्भके तुल्य माने हैं क्योंकि इनके करनेसे दोषोंका परिमार्जनक होकर चित्त विशुद्ध होता है । यदि उस स्थितीमें इन्हें न किया जाये तो इनका न करना अर्थात् अप्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है क्योंकि दोषोंका परिमार्जन न होनेसे पापका बन्ध होता है । किन्तु अष्टम आदि गुणस्थानोंमें प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ माने जाते हैं क्योंकि शुभोपयोग रूप होनेसे ये पुण्यास्त्रवके कारण होते हैं और पुण्यबन्ध वैभवका कारण होनेसे मनुष्यकी मतिको विकृत करता है । परमात्मप्रकाशमें कहा है-पुण्यसे वैभव मिलता है । वैभव पाकर मद होता है, मदसे बुद्धि मूढ़ हो जाती है । बुद्धिकेमूढ़ होनेसे प्राणी पाप करने लगता है । ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए ।

अतः ऊपरकी भुमीकामें आत्स्थानसे ही दोषोंका परिमार्जन हो जाता है ॥ ६३ ॥

आगे मुमुक्षुको समस्त कर्मोंके त्यागकी भावनापूर्वक समस्त कर्मफलके त्यागकी भावनाकी ओर पेरित करते हैं-

सम्यग्ज्ञानकी भावनामें लीन साधुको भूत, वर्तमान और भावि कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान करके उनके फलोका भी त्याग करना चाहिए ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ-पूर्वकृत दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है । वर्तमान दोषोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है और आगामी कालमें लगनेवाले दोषोंसे बचनेके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है । समयसारमें कहा है-जो आत्मा पूर्वमें उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मके उदयसे हुए भावसे अपनेको हटाता है अर्थात् तद्रूप नहीं होता वह उन भावोंको कारणभूत पूर्वकृत कर्मोंका प्रतिक्रमण करता है । आगामी कालमें जो शुभ और अशुभ कर्म जिस भावके होनेपर बँधते हैं, उस भावसे जो अपनेको निवृत्त करता है । वह प्रत्याख्यान है । वर्तमानमें जो शुभ-अशुभ कर्म अपने अनेक प्रकारके विस्तार विशेषको लिये हुए

उदयमें आया है उसको जो अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह आलोचना है। इस प्रकार यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ, पूर्व उपार्जित कर्मके कार्य और आगामी कालमें बँधनेवाले कर्मोंके कारणभूत भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता, हुआ, तथा वर्तमान कर्मादयको अपनेसे अत्यन्त भिन्न जानता हुआ अपने ज्ञानस्वभावमें निरन्तर चरण करनेसे स्वयं चारित्र होता है।

भ. कु. च. ।

कृतकारितानुमनैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः ।

परिहृत्य कर्म सर्व परमं नैष्कर्म्यसवलम्बे ॥ (सम. कल. २२५ श्लो.)

अपि च-

मोहादयदह्यकार्ष समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ (सम. कल. २२६ श्लो.)

तथा. न करोमि न कारयामि न कुर्वन्मप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेत्यादि

आशय यह है कि पहले लगे हुए दोषसे आत्माका निवर्तन करना प्रतिक्रमण है। आगामी दोषोंसे वचनेका नाम प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माका पृथक् होना आलोचना है। व्यवहारमे इनके लिए प्रतिक्रमण दण्डक पाठ, बाह्य वस्तुओंका त्याग और गुरुसे दोषोंका निवेदन आदि किया जाता है जैसा पहले बतलाया है। किन्तु परमार्थसे जिन भावोंके कारण पहले दोष लगे, वर्तमानमें लगते हैं और आगामी कालमें लगेंगे उन भावोंसे आत्माकी निवृत्ति ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना है। अतः ऐसा आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना है। अर्थात् समस्त कर्म और कर्मफलका त्याग मुमुक्षुको करना चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है- ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि यह मैं हूँ यह अज्ञान चेतना है। उसके दो भेद हैं-कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंका कर्ता अपनेको मानना कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंका भोक्ता अपनेको मानना कर्मफल चेतना है। ये दोनों ही चेतना संसारके बीज हैं। क्योंकि संसारके बीज हैं आठ प्रकारके कर्म और उन कर्मोंका बीज है अज्ञान चेतना। इसलिए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाके विनाशके लिए सफल कर्म संन्यास भावना और सफल कर्मफल संन्यास भावनाको भाकर स्वभाव भूत ज्ञान चेतनाका ही अनुवर्तन करना चाहिए। सबसे प्रथम सकल कर्म संन्यास भावना माना चाहिए - सकल कर्मोंके त्याग के कृत, कारित, अनुभोदना और मनवचन कायको लेकर ४९ भंग होते हैं। यथा-जो मैंने अतीत कालमें कर्म किया, कराया, दुसरे करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे, कायसे वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे, वह दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनुमोदन कारित अनुमोदनाके सात-सात संयोगी भंग होते हैं। दोनोंको परस्पर मिलानेसे ४९ भंग होते हैं। समयसार कलशमें आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है-अतीत

अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी सभी कर्मोंको कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन कायसे छोड़कर मैं उत्कृष्ट निष्कर्म आवस्थाका अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार ज्ञानी सब कर्मोंके त्यागकी प्रतिज्ञा करता है। और भी-मैंने जो मोहके वशीभूत होकर कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्ममें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है। आशय यह है कि भूतकालमें किये गये कर्मकी ४९ भंग पूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानीके ज्ञान स्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करनेकी यह विधि है। मिथ्या कहनेका मतलब यह है कि जैसे किसीने पहले धन कमाकर जमा किया था। उसने उसके प्रति ममत्व जब छोड़ दिया तब उसे भोगनेका उसका अभिप्राय नहीं रहा। अतः उसका भुतकालमें कमाया हुआ धन

पूर्ववत्। यथाह-

मोहविलासविजृम्भितमिदमृदयत्कर्म सकलमालोच्य।

आत्मानि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ (सम. कल. २२७ श्लो.)

तथा न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमध्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा कायेन च इत्यादी पूर्ववत्। यथाह-

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।

आत्मानि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥ (स. कल. २२८ श्लो.)

एवं चेदमभ्यसनीयम्-

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बो।

विलीनमोही रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ (सम. कल. २२९ श्लो.)

न कमानेके ही समान हुआ। इसी प्रकार जीवने पहलें जो कर्मबन्ध किया था, जब उसे अहित रूप जानकर उसके प्रति समत्व भाव छोड़ दिया और उसके फलमें लीन नहीं हुआ तब भूतकालमें बाँधा हुआ कर्म नहीं बाँधनेके समान मिथ्या हो गया। इस प्रकार प्रतिक्रमण हुआ। इसी प्रकार आलोचना होती है-

मैं वर्तमानमें कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे। इस प्रकार प्रतिक्रमणके समान आलोचना भी ४९ भंग पूर्वक की जाती है। अर्थात् मोहके विलाससे पैला हुआ जो यह उदयागत कर्म है, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्मसे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

आशय यह है कि वर्तमानमें उदयमें आये कर्मके प्रति ज्ञानी विचार करता है कि मैंने पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कर्म हैं, मेरा नहीं। मैं उसकी कर्ता नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ। उसकी प्रवृत्ति तो ज्ञान दर्शन रूप है। अतः मैं तो उद्यागत कर्मका ज्ञाता द्रष्टा हूँ। इस प्रकार आलोचना करता है।

इसी प्रकार प्रत्याख्यानका भी क्रम जानना । मैं भविष्यमें कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे, वचनसे, कायसे इत्यादी पूर्ववत् ४९ भंगोसे आगामी कर्मशक्ति प्रत्याख्यान किया जाता है । कहा है-भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके मोहसे रहित होता हुआ मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्ममें आत्मासे निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

आशय यह है कि व्यवहार चारित्रमें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण आलोचना और प्रत्याख्यान होता है । किन्तु निश्चय चारित्रमें शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्वकर्म आत्माके दोषरूप है । अतः उन समस्त कर्म चेतना स्वरूप परिणामोंका तीन कालके कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्वकर्म चेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोग रूप आत्माके ज्ञान श्रद्धान द्वारा तथा उसमें स्थिर होनेका संकल्प करता है । कहा है- पूर्वोक्त प्रकारसे तीनों कालोके समस्त कर्मोंको दूर करके शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला और मिथ्यात्वरूपी मोहसे रहित मैं सर्व विकारोंसे रहित चैतन्य मात्र आत्माका अवलम्बन करता हूँ ।

इस तरह कर्मसंन्यास करके कर्मफलके संन्यासकी भावना करता है-मैं मति ज्ञाना-

तत्फलं- ज्ञानावरणादिकर्मफलम् । व्युत्सृजेत्-विविधमुत्कृष्टं त्यजेत् । तथाहि-नाहं भतिज्ञानावरणीयफलं मुझे चैतन्यमात्मानमेव संचेतये । एवं नाहं, श्रुतज्ञानावरणीयफलमित्यादि समस्तकर्मप्रकृतिष्वावर्तनीयम् । यथाह-

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भूक्तिमन्तरेणैव ।

संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्यानस् ।। (सम. कल. २३० श्लो.)

अपि च-

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात् ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तिवृत्तेः ।

चैतन्यलक्ष्य भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ।।

(सम. क. २३१ श्लो.)
